क्या आर्यिका मातायें पूज्य हैं ?

भाग - १

नहीं हैं ।।

✍ पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

❖

भाग - २

हाँ, हैं ।।

✍ पं. हेमन्त काला, रायपुर

संपादन द्वय

पं. भरतकुमार काला
टैगोर नगर, विक्रोली, मुंबई

❖

पं. गुलाबचंद "आदित्य"
शहाजहाँनाबाद, भोपाल

प्रकाशन आयोजन
सुरज जय ग्रंथमाला प्रकाशन समिति
अमलीडीह, रायपुर (छ.ग.)
पिन - ४९२००६

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थल

१. सुरज जय ग्रंथमाला प्रकाशन समिति
पीयुष कॉलोनी, पार्नी पंप के सामने,
अमलीडीह, रायपुर (छ.ग.) पिन : ४९२००६

❖

२. जैन हाउसिंग एजेन्सी
C/o. संतोषकुमार जैन (काला)
७, लाल गंगा चेम्बर्स, (फ्टवा कॉम्पलेक्स)
मोहदापारा, रायपुर (छ.ग.)

❖

३. श्री मलूकचंद हीराचंद धार्मिक एवं पारमार्थिक ट्रस्ट
पोस्ट : बडनगर, जिला : उज्जैन (म.प्र.)

❖

४. नॅशनल नॉन वायलेन्स युनेटी फाउन्डेशन ट्रस्ट
लक्ष्मी नगर, उज्जैन (म.प्र.)

❖

५. संतोष कुमार जैन (इचलकरंजी) एवं निलेश चंद्रप्रकाश बडजात्या (मुंबई)
(चि. निलेश दायमा (इचलकरंजी)के विधिवत् चंद्रप्रकाश बडजात्या, इंदौर, के यहां गोद
आने व दिगंबर जैन धर्म स्वीकार करने के उपलक्ष्य में)

- प्रथम संस्करण
- प्रतियाँ : ११०००
- मूल्य : १५ रु. मात्र

- © सर्वाधिकार सुरक्षित :
  सुरज जय ग्रंथमाला प्रकाशन समिति,
  रायपुर

- मुद्रण : गायत्री ऑफसेट
  जोशी भवन, घाट रोड, नागपुर-४४००१८.

सम्पादकीय

पिछले कई दिनों से प्रस्तुत विषय के प्रति उहापोह में था कि सत्य क्या है ? और वह इसलिये कि अन्य भ्रान्तियों की तरह ही यह भ्रान्ति भी आज या कल की नहीं है, वर्षों पुरानी है। सत्य ठीक-ठीक और पूर्ण अर्थों में प्रगट नहीं हो रहा था।

मन के कोने में कहीं एक विचार उठता था कि आर्यिका माताओं की पूजा का निषेध करने वाले व पूजा का पक्ष रखने वाले, इन दोनों के पास अपने-अपने पक्ष को प्रामाणिक कहने के पक्ष में जो आगम परिप्रेक्ष्य में उत्तम से उत्तम प्रमाण हैं, उन दोनों ही प्रमाणों को एक साथ एक ही स्थान पर रखा जाय और फिर स्वयं भी निर्णय किया जाय व दूसरों को भी निर्णयों की सुगमता लिये एक साथ एक ही पुस्तक में प्रकाशित करवाया जाय।

अभी यह विचार मन में ही था कि सहज ही आगर से रतनलाल जी बैनाड़ा का परिपत्रक "आर्यिका, आर्यिका है मुनि नहीं" प्रकट हुआ। पढ़कर लगा कि आर्यिका माताओं की पूजा का निषेध करने वालों के पास इसके अधिक उत्तम तर्क नहीं हो सकते। ये तर्क पर्याप्त हैं।

विषय के विपक्ष का चिंतन तो मिल गया किंतु पक्ष का चिंतन अभी नहीं मिला था।

इसी बीच रायपुर से पंडित हेमन्त जी काला, जो कि मेरे भतीजे भी हैं व सुप्रसिद्ध आगम विद भी, उनका मुंबई आना हुआ। मैंने उन्हें वह परिपत्रक दिखलाया और आग्रह किया कि यदि वे विषय के विपक्ष में है तो फिर कुछ नहीं और यदि आर्यिका माताओं की पूजा के पक्ष में है फिर तो हम उनके विचार आगम आलोक में जानना चाहेंगे।

उन्होंने स्पष्ट और दो टूक शब्दों में मना कर दिया।

हमने भी बैनाड़ा जी का परिपत्रक पढ़ने हेतु उनके सुपुर्द कर दिया। बात आई गई हो गई।

इस बीच हमारा रायपुर जाना हुआ। हम पंडितजी के घर भी गये। वे घर पर नहीं थे। हम कुछ देर इंतजार की अपेक्षा वहाँ रुक गये। हमने देखा, पंडित जी के स्वाध्याय कक्ष की मेज पर कुछ तुरंत लिखे पृष्ठ थे, बैनाड़ा जी की नव देवताओं के संदर्भ में जिज्ञासाओं का समाधान करते हुये। हमने पढ़े और हम सभी उनके चिंतन व लेखन शैली से अवाक् रह गये। हम जो आर्यिका माताओं के पक्ष में चाहते थे वह हमें मिल गया था।

पंडित जी के लौटने का इंतजार किया। वे लौटे। हमने उनसे इसी विषय पर चर्चा प्रारंभ की व प्रकाशन हेतु आग्रह किया। उन्होंने इन्कार कर दिया। हमने दबाव डाला। येन-केन प्रकारेण वे मान गये। और अब आर्यिका माताएं पूज्य हैं के पक्ष में भी हमारे पास सामग्री थी।

दोनों लेखों को हमने एक साथ एक ही समय में सामने रखा, स्वयं पढ़ा व और भी मुनिवर्य, आर्यिका वर्ग, विद्वत वर्ग, त्यागी वर्ग, श्रेष्ठी वर्ग को पढ़वाया। सभी से मुक्त कंठ प्रशंसा प्राप्त हुई। प्रशंसा प्राप्त होने के पश्चात् प्रकाशन का पक्ष रखा गया और अब यह आप सभी के पास है।

इस पुस्तक में दोनों, आर्यिका माताओं की पूजा करने वालों व निषेध करने वालों के, पक्ष में सशक्त तर्क हैं और साथ ही एक और विशेषता यह है कि इन दोनों लेखों को पढ़ने के पश्चात् पाठक एक निर्णय पर आ ठहरता है। ढुलमुल नहीं हो पाता। वह निर्णय क्या होता है, इसे ना बतलाते हुए हम निर्णय का अधिकार आप पाठकों के पास ही सुरक्षित रखते हैं।

आप पढ़िये, समझिये, सोचिये और हो सके तो एक पोस्टकार्ड पर अपने लिये गये निर्णयों से हमें भी सूचित कीजिये।

प्रकाशन का कार्य महत् होता है। उसमें भी फिर सम्पादक का कार्य तो और भी महत् होता है। त्रुटियाँ तो हुई ही होंगी, रही भी होंगी, उन सभी त्रुटियों के प्रति क्षमा याचना करते हुए मैं यहाँ विराम लेता हूँ।

इस पुस्तक की उपयोगिता के प्रति मंगल कामना करते हुए,

आपका
भरत कुमार काला
टैगोर नगर, विक्रोली (ईस्ट)
मुंबई - (महा.)
दूरभाष - ०२२-५७४३४९१

❑

आद्य वक्तव्य

सच कहूँ तो इस मीमांसा को मैं प्रकाशित करवाना तो नहीं चाह रहा था ॥

प्रकाशन का ध्येय ले इसे लिखा भी नहीं ॥

आदरणीय बैनाड़ा जी का परिपत्रक प्राप्त हुआ और सहज ही उनसे आगम परिप्रेक्ष्य में संवाद की इच्छा हुई ॥

इसी संवाद की इच्छा से मैंने यह मीमांसा प्रारम्भ की, इस मीमांसा में बैनाड़ा जी के साथ आगम परिप्रेक्ष्य में संवाद के सिवाय कुछ भी नहीं है ॥

उनके मन्तव्य पता नहीं क्यों मुझे अतिरंजित व अधूरे लगे ॥

अतिरंजित व अधूरे चिन्तवन को उन्होंने सम्यक् व पूर्ण मान न सिर्फ लिखा, अपितु प्रकाशित भी करवाया ॥

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि मुझे प्रकाशित नहीं करवाना था तो इस लेख माला को आखिर मैंने लिखा तो क्यों लिखा ?

लिखने का आशय कह आया हूँ ॥

प्रकाशित न करने का आशय कह रहा हूँ ॥

इस सत्य का मुझे आभास है कि जिसका पुण्य होता है, मत उसी का चलता है ॥

आवश्यक नहीं कि सत्य उसके पक्ष में ही हो ॥

मुझे प्रतिनारायण जरासंध याद आ रहे हैं ॥

एक तरफ जरासंध थे तो दूसरी तरफ बलभद्र बलराम, नारायण श्रीकृष्ण व तीर्थंकर नेमिनाथ.....

किन्तु आश्चर्य, तीनों पुण्य पुरुषों को जरासंध के आगे समर भूमि से पीठ दिखाकर भागना पड़ा ॥

अतः जिसका पुण्य होता है, मत उसी का चलता है ॥

आवश्यक नहीं कि सत्य उसी के पक्ष में हो ॥

संभावना तो यह है कि सत्य जिसके पक्ष में हो, समर भूमि उसी को त्याग भागना पड़े ॥

अभी तो प्रतीत यही हो रहा है कि पुण्य मेरे पक्ष में नहीं है ॥

चूँकि पुण्य मेरे पक्ष में नहीं है, अतः दो ही उपाय हैं :-

एक तो सत्य की स्थापना के लिये स्वयं के पुण्य की प्रतीक्षा करूँ या फिर किसी पुण्यशाली का संबल लूँ ॥

मेरे पास दोनों ही नहीं है ॥

मुझे महाराजा कंस याद आ रहे हैं ॥

उनकी अनर्गल व आततायी क्रिया कलापों से समूचा राज्य त्रस्त था ॥

सत्य के पक्षधर कुछ मन्त्री वर्ग भी ॥

मन्त्रियों से पूछा गया कि जब आप महाराज के पक्ष में नहीं हैं, तो फिर विद्रोह क्यों नहीं करते ?

मन्त्रियों का उत्तर था कि हम किसी एक सशक्त पुण्यशाली व्यक्तित्व की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ हम मूल योद्धा नहीं है ॥ मूल योद्धा तो वही होगा ॥ हम तो उसकी सेना है ॥ उसके लिये हमें स्वयं को बचा कर रखना होगा ॥

शायद मैं भी यही करना चाहता था ॥

वर्तमान के आगम विरुद्ध परिवेश में आगमानुसारी बुद्धि वालों के लिये सिवाय इसके और कोई उपाय ही नहीं है ॥

पग-पग पर यह सम्प्रदाय बढ़ व पल रहा है ॥

प्रत्येक आगमोक्त कथन पर प्रश्न चिह्न जड़ा जा रहा है कि यह तो अन्य मतियों से आया है, यह तो भट्टारकीय परम्परा है.....

शनैः शनैः पूजा की पुस्तक से लेकर ऊपर श्री धवला जी तक के मन्तव्यों के अर्थ व सार ही हमने बदल दिये ॥

जिस-जिस सूत्र के पक्ष में हम तर्क उपलब्ध न कर पाए उन सभी सूत्रों को हमने कुतर्कों का आश्रय ले मिथ्या घोषित कर दिया ॥

जबकि सुतर्क व कुतर्क की सरल सी परिभाषा थी कि जो तर्क सूत्र की सिद्धि करे वह सुतर्क व जो तर्क सूत्र के विपरीत जाए व कुतर्क ॥

हम अपनी तर्कणा शक्ति की हीनता से अनभिज्ञ, अपने आप को महान विचारक जानते और समझते हुए, अन्वेषण के नाम पर अपने कुतर्कों के आश्रित हो बगैर अवर्णवाद के भय से भयभीत हुए, आगम वचनों का अपलाप, आगम वचनों की अभावना के नाम पर कर रहे हैं ॥

उपरोक्त कथन प्रबुद्ध श्रोताओं के लिये लक्षणमात्र है ॥

वे शायद विषय में अनुक्त मर्म को समझें ॥

सो मैं तो मौन ही रहना चाह रहा था ॥

मौन रहते हुए बैनाड़ा जी के परिपत्रक के माध्यम से स्वान्तः सुखाय हेतु अपनी कल्पनाओं में उनसे वार्तालाप करते हुए, उसे ही पृष्ठों पर उतार रहा था ॥

पिछले दिनों भगवान जिनेन्द्र के मत में शनैः शनैः फैल रहे अवर्णवाद के भय से भयभीत कुछ सज्जन मेरे घर आए ॥ मैं नहीं था ॥ किन्तु कुछ समय पहले लिखे वार्तालाप के कुछ पृष्ठ वहीं रखे हुए थे, सहज ही उन्होंने उठा लिए, गद्गद हुए, मानो वे जो तलाश रहे थे वह उन्हें मिल गया ॥

मैं विलम्ब से लौटा, किन्तु वे तब तक घर पर ही रुके रहे ॥

मुझ पर दबाव डाला व प्रकाशन की सहमति मांगी ॥

मैंने भी दे दी ॥

सो अब यह आपके सम्मुख है ॥

मैंने इसमें सिर्फ एक लक्ष्य रखा है कि मेरे तर्कों से आगम में उल्लेखित सूत्रों में बाधा न आ जाए ॥

कहीं मुझे भी मेरे तर्कों के आश्रित हो यह न कहना पड़ जाए कि अरे !! ये तो अन्य मत से आया है, ये तो भट्टारकीय परम्परा है, यह आगम बाह्य वचन है.....

यदि इसके बाद भी मैं स्खलित हुआ हूँ तो पाठकगण कृपा कर मुझे क्षमा करें ॥

आप सभी से मेरा यही निवेदन है कि यदि मेरा तर्क आगम में उपलब्ध किसी भी सूत्र का उल्लंघन करे तो कृपा कर आगम के सूत्र मत छोड़िएगा, मुझे छोड़ दीजिएगा.....

यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि आखिर हम आगम कहें तो किसे कहें ?

सरल सा उत्तर है कि हमारे पास पचास से साठ ऐसे ग्रन्थराज हैं जिनकी प्रामाणिकता पर किसी भी एक विद्वान को संदेह नहीं है, अतः वे ग्रन्थराज जिन पर किसी भी सम्यक अथवा मिथ्या दोनों ही विद्वानों को शंका नहीं है, उनमें वर्तमान के आवश्यक सभी विषय उपलब्ध हैं, कम से कम हम स्वयं को इन्हीं पचास या साठ धर्मग्रन्थों को प्रमाण मान उनकी अनुसारिणी बुद्धि का बना लें ॥

जैसे :- श्री धवला जी, जय धवला जी, महा धवला जी ॥ श्री सर्वार्थसिद्धि जी, राजवार्तिक जी, श्लोक वार्तिक अलंकार जी ॥ श्री देवागम स्तोत्र जी, अष्टशती जी, अष्टसहस्रीजी ॥ श्री मूलाचार जी, मूलाचार प्रदीप जी, आचार सार जी, अनगार धर्मामृत जी ॥ श्री तिलोयपण्णत्ति जी, त्रिलोकसार जी, जम्बूद्वीप पण्णत्ति जी ॥ श्री समयसार जी, प्रवचनसार जी, पंचास्तिकाय जी एवं इन पर उपलब्ध श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य जी एवं श्रीमद् जयसेनाचार्य जी की टीकाएँ, नियमसार जी, अष्ट प्राभृत जी ॥ श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जी, पुरुषार्थ सिद्धयुपायजी, उपासकाध्ययन जी, सागार धर्मामृत जी ॥ सभी प्रतिष्ठा ग्रन्थ जी (पूजा सम्बन्धी मीमांसा के लिये) ॥ श्री आदिपुराण जी, उत्तरपुराण जी, हरिवंशपुराण जी, यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य जी ॥ श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड जी, गोम्मटसार कर्मकाण्ड जी, आलाप पद्धति जी, सम्मति सूत्र जी, नय चक्र जी, कार्तिकेयानुप्रेक्षा जी, भावसंग्रह जी, प्रमेय रत्नमाला जी, प्रमेय कमल मार्तण्ड जी आदि-आदि ॥

ये नाम अंतिम नहीं है, और भी ग्रन्थ हैं, उन्हें अपनी-अपनी सम्यक् बुद्धि अनुसार संकलित कर लें ॥

उपरोक्त ग्रन्थों के सम्यक् स्वाध्यायी के लिये, सच कहता हूँ, पूजा की पुस्तक से लेकर ऊपर श्री धवला जी महाग्रन्थ तक कोई शंका ही शेष नहीं रह जाती है ॥

निर्दोष बुद्धि का हो जाता है वह ॥

ऐसा कोई प्रश्न अथवा चिन्तवन शेष नहीं किसे कि उपरोक्त ग्रन्थों में आचार्य भगवंतों ने विस्मरण कर दिया हो ॥

हमें नये सिरे से सोच की आवश्यकता ही नहीं ॥

जितना शंकित विषय था, उन सभी विषयों पर स्वयं आचार्यों ने चिन्तवन कर निःशंक होने की नींव सम्यक्दर्शन रूपी महल की निर्मिती हेतु हमारे लिये सहज ही उपलब्ध करवा रखी है ॥

सामग्री उपलब्ध है ॥

अब निःशंक होने का पुरुषार्थ मुझे करना है ॥

वर्तमान में सम्यक् अथवा मिथ्या सूत्र की प्ररूपणा की आवश्यकता ही नहीं है ॥

यह परिश्रम तो पिछले २००० वर्षों की यात्रा में हो चुका ॥

अब तो उपलब्ध सूत्रों की अनुसारिणी बुद्धि का हो, निःशंक चित्त के धारी होने के पुरुषार्थ की आवश्यकता है ॥

इस सत्य के प्रतिपादन हेतु नवीन उदाहरण की आवश्यकता नहीं, बैनाड़ा जी के परिपत्रक पर प्रस्तुत यह मीमांसा ही पर्याप्त है ॥

मैं जानता हूँ मेरा यह पुरुषार्थ व उसका फल वर्तमान में सन् १८५७ में अंग्रेजों के खिलाफ भारतियों द्वारा लड़े गये युद्ध जैसा ही है, किंतु फिर भी इस आशा से इसे प्रकाशित करवाया है कि शायद मेरे द्वारा रोपा गया यह बीज भविष्य में वट वृक्ष का रूप ले और आर्यिका माताओं के प्रति एवं ऐसे ही अन्य भी परिपत्रक में वर्णित विषयों की मिथ्या धारणा की धूप से तृषित भव्यों को सम्यक् छांव दें ॥

एक बार पुनः कह दूँ कि मेरे मन में आदरणीय बैनाड़ा जी के प्रति व्यक्तिगत द्वेष अंश मात्र भी नहीं है ॥

यदि मैं कहीं-कहीं मीमांसा में अथवा इस आज वक्तव्य में कड़वा हो गया हूँ तो मात्र इसलिये कि हमारे पूर्वाचार्यों, विद्वानों व वर्तमान के पिच्छीधारियों के प्रति उन्होंने धृष्टता की है ॥

इसके पश्चात् भी, उन्हें क्षमा करते हुए, उनके प्रति जो मैं धृष्ट हो गया हूँ उसकी नवकोटि से क्षमा याचना करता हूँ ॥

आशा करता हूँ, मुझे लघु जान वे अवश्य ही क्षमा कर देंगे ॥

शेष शुभ ॥

हेमन्त काला
रायपुर (छत्तीसगढ़)

चैत्र शुक्ला अष्टमी, विक्रम संवत् २०५७
१ अप्रैल २००१, रविवार

❑

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

आद्य वक्तव्य

भाग – १ (लेखक - पं. रतनलालजी बैनाड़ा, आगरा)

विषय — पृष्ठ

आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं — १ से १५

(कुल १३ चर्चायें)

भाग – २ (लेखक - पं. हेमन्त काला)

विषय — पृष्ठ

आर्यिका मातायें संयमी हैं, पूजनीय हैं

(बैनाड़ा जी के उपरोक्त परिपत्रक पर आगम-आलोक में चर्चा)

१. शीर्षक मीमांसा — १६-१७

१. क्या आर्यिकाएँ मुनि हैं, २.कानजी मत मीमांसा, ३. भ्रामक मत, ४. उपसंहार

२. चर्चा - १ (पूर्वार्द्ध) — १८ से २०

शंका :- आगम में कितने लिंग हैं ?

१. बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. लिंग संख्या, ३. लिंगी निर्लिंगी मीमांसा, ४. अंतरंग स्वसंवेदन ही लिंगी व निर्लिंगी का मुख्य भेद, ५. लिंगियों की श्रावक संज्ञा क्यों ?, ६. सभी लिंगियों पर एक से संस्कार क्यों नहीं ?, ७. उपसंहार

३. चर्चा - १ (उत्तरार्द्ध) — २१ से २९

शंका :- कौनसा लिंग पूज्य है ?

१. बैनाड़ा जी का मन्तव्य, २. लिंगियों के प्रति श्रावकों के विनय सूत्र (अ. निर्वस्त्र को वंदना, आ. सवस्त्र को इच्छाकार), ३. इच्छाकार शब्द का अर्थ, ४. बैनाड़ा जी का स्व-वचन बाधा वक्तव्य, ५. बैनाड़ाजी की शैली में शंका, ६. गुणों की पूजा से पात्र में स्थित अवगुण पूज्य नहीं होते ?, ७. उपसंहार

४. चर्चा - २ पूर्वार्द्ध — ३० से ३६

शंका :- क्या आर्यिकायें संयमी हैं ?

१. बैनाड़ा जी का मंतव्य (आर्यिकायें असंयम मार्गणाधीन हैं) २. बैनाड़ा जी के निष्कर्षों

का आगम से विरोध (१. संयम मार्गणा मीमांसा, २. पंच भाव मीमांसा, ३. अल्पबहुत्व अनुयोग, ४. चरणानुयोग की अपेक्षा, ५. गुणस्थान प्ररूपणा, ६. न्याय अपेक्षा), ३. उपसंहार

५. चर्चा -२ उत्तरार्द्ध ३७ से ५०

शंका :- आर्यिकाओं को आगम में संयमी कहा या नहीं ?

१. पंचम गुणस्थान की विवक्षा, २. बैनाड़ा जी द्वारा आर्यिकाओं में असंयम की सिद्धि हेतु दिये प्रमाणों की मीमांसा :-

प्रमाण - अ (१.स्ववचन बाधा, २. आचार्यों द्वारा युगपत् परिणामों की सिद्धि, ३. धवलाकार जी की अपेक्षा प्रस्तुत प्रमाण का अर्थ, ४. उपसंहार)

प्रमाण - आ (१.प्रमाणाभाष, २. असंयमी शब्द से तात्पर्य, ३. स्वाध्याय छल, ४. गुण-युक्त दो ही पात्र श्रावक और मुनि, ५.इच्छाकार का अर्थ वंदना/नमस्कार)

प्रमाण - इ (१. अर्थ छल, २. प्रकरण छल, ३. स्त्रियों में सवस्त्र लिंग की सिद्धि, ४. स्त्रियों में रत्नत्रय की सिद्धि, ५. स्त्रियों में वस्त्र संबंधी असंयम भी संयमाचार पूर्वक, ६. उपसंहार)

प्रमाण - ई (१. बैनाड़ाजी का मत, २. मीमांसा, ३ .स्वाध्याय छल, ४. व्रती कौन ?, ५. नयों की अपेक्षा व्रती, ६. चारित्र मोहनीय कृत कार्य, ७. देशव्रती का मरण स्तुति योग्य, ८. देशव्रती सल्लेखना रूप उत्तमार्थ का साधक, ९. उपसंहार)

प्रमाण : उ (१. बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. स्त्रियों के स्वाभाविक दोष उसमें योग्य गुणों में बाधक नहीं, ३. स्वदार संतोष व्रत में दूषण, ४. उपसंहार)

प्रमाण - चर्चा ३ से (१. बैनाड़ा जी का मन्तव्य, २. बंध प्रत्यय सम्बन्धी भ्रामक मत, ३. उपसंहार)

अभी तक की चर्चा पर सिंहावलोकन

६. चर्चा : ३ (चर्चा ५ समन्वित) ५१ से ६८

शंका :- आगम में स्त्रियों की दीक्षा कही है या नहीं ?

१. बैनाड़ा जी द्वारा श्री सूत्र पाहुड जी से प्रमाण, २. श्रुत अवर्णवाद के भय से भयभीत होना सीखना चाहिए ? ३. बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण पर मीमांसा, ४. आगम में स्त्रियों के लिये दीक्षा शब्द का प्रयोग किया है या नहीं ? इसके प्रमाण, ६. दीक्षा शब्द के अर्थ, ७. स्त्रियों में सवस्त्र दीक्षा क्यों कही ?, ८. स्त्रियों का लिंग भी मोक्षपुरुषार्थी अर्थ में है ?, ९. आर्यिका माताओं को नमस्कार निवेदन, १०. आर्यिका माताओं पर कौन से संस्कार संस्कारित होते हैं - (१. महाव्रतों के, २. श्राविकाओं के) १०. बैनाड़ाजी द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाणों से ही निर्णय, ११. जयसेनाचार्य जी द्वारा उपचार शब्द की

मीमांसा हेतु दिये गये उदाहरण द्वारा सत्य की सिद्धि, ११. श्री अकलंकदेव द्वारा उपरोक्त मंतव्य की सिद्धि, १३. श्री आलाप पद्धति से भी उपरोक्त मंतव्य की सिद्धि, १४. प्रत्याख्यानावरण कषाय के सद्भाव में महाव्रत हो सकते है या नहीं ?, १५. महाव्रतों के संस्कार क्यों ? (१. सज्जाति की शुद्धि के लिये २. उपचार से), १६. सज्जाति शब्द का अर्थ, १७. उपचार शब्द का अर्थ, १८. सामायिक शिक्षाव्रती को भी उपचार महाव्रत कहे है, १९. बैनाडा जी का मंतव्य, २०. उपचार महाव्रत कहां तक ग्रहण करे?, २१. सामायिक शिक्षाव्रती व आर्यिका माताएँ दोनों में अंतर, २२. सामायिक शिक्षाव्रती के द्रव्यलिंग की सिद्धि, २३. आर्यिका माताओं में भावलिंग की सिद्धि, २४. ये मुनियों की जाति की कैसे?, २५. उपसंहार, २६. अन्य लिंगी भी दीक्षित हो ॥

६९ से ७७

७. चर्चा : ३ (उत्तरार्द्ध)

शंका :- आर्यिकाओं के मूलगुण ही पूरे नहीं होते

१. आर्यिकाओं पर दोषारोपण करते बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. आर्यिका माताये मुनि नहीं है की स्वीकारोक्ति, ३. उपचार शब्द की मीमांसा पूर्वक विषय प्रवेश, ४. २८ मूलगुणों की पूर्णता की सिद्धि,

५. बैनाड़ा जी द्वारा आरोपित दूषणों का निराकरण :-

प्रथम दूषण का निराकरण:-

आर्यिका माताओं के नग्नत्व मूलगुण की सिद्धि (१. बैनाड़ाजी का मंतव्य, २. स्त्रियों के सावरण लिंग की सिद्धि, ३. वस्त्रों में मूर्छा अमूर्छा मीमांसा, ४. स्त्रियों के उपचार नग्नत्व की सिद्धि का एकांत करने पर मुनिओं के भी परिग्रह का दूषण, ५. उपचार अपरिग्रह व उपचार स्पर्शन इन्द्रिय जय भी, ६. उपसंहार)

द्वितीय दूषण का निराकरण :-

आर्यिका माताओं में ठिदि मूलगुण की सिद्धि, (१. बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. विषय मीमांसा (ठिदि भोजन व्याख्या पूर्वक), ३. उपसंहार)

तृतीय दूषण का निराकरण :-

सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति व संयम की सिद्धि के सूत्र, (१. बैनाड़ा जी का सदोष मंतव्य, २. हिंसा की परिभाषा, ३. यही दूषण पुरुषों पर भी, ४. उपसंहार)

चतुर्थ दूषण का निराकरण :-

शुद्धि स्नान व आर्यिका माताये, (१. बैनाड़ा जी का सदोष मंतव्य, २. स्नान की परिभाषा, ३. मुनियों में भी दंड स्नान अतिचार नहीं प्रायश्चित्त है, ४. उपसंहार)

संपूर्ण चर्चा का उपसंहार

७८ से ८३

८. चर्चा : ४

शंका :- क्या आर्यिकायें पूज्य हैं ?

१. बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. नौ देवताओं की संख्या व संज्ञा, ३. चैत्यालय व रत्नत्रय संहितता, ४. फिर भी पूज्यता की सिद्धि, ५. आगम में पूज्यता का विधान (निक्षेपों द्वारा) ६. रत्नत्रय का एकान्त नहीं, ७. उपचार शब्द की व्याख्या, (बैनाड़ा जी द्वारा पूर्व में प्रस्तुत जयसेनाचार्य जी के वचन), ८. उन्हीं के वचनों से उपचार शब्द से पूज्यता की सिद्धि, ९. स्थापना निक्षेप से भी आर्यिका माताओं में पूज्यता, १०. उपचार शब्द का अर्थ समीपता, ११. समीपता अर्थ से भी पूज्यता की सिद्धि, १२. आर्यिका माताओं का समावेश किन परमेष्ठियों में है, १३. उपसंहार

९. चर्चा : ६ ८४ से ९७

शंका :- क्या आगम में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है ?

१. आर्यिकायें मुनि कुल की हैं (बैनाड़ा जी के ही प्रमाण), २. नवधा भक्ति की सिद्धि, ३. आर्यिकायें पूज्य हैं/महाव्रती हैं (प्रमाण व मीमांसा), ४. नवधा भक्ति तो महाव्रतों की अनुसारिणी, ५. निषेध करना है तो महाव्रतों का करो, ६. महाव्रतों के निषेध होते ही नवधा भक्ति का निषेध स्वयमेव हो जायेगा, ७. आर्यिका मातायें व उत्तम श्रावक श्राविकायें अतिथि हैं, ८. अतिथित्व की सिद्धि, ९. आर्यिका मातायें व उत्तम श्रावक अनगार हैं, १०. उनमें अनगारत्व की सिद्धि, ११. उपसंहार

१०. चर्चा : ७ ९८ से १०९

शंका :- क्या आगम में तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति कही है ?

१. बैनाड़ा जी का अति उत्साह व स्वबचन बाधा। २. आहार दान हेतु पात्र, ३. आहार दान की विधि का प्रमाण, ४. तीनों प्रकारके पात्रों की नवधा भक्ति मीमांसा, ५. मध्यम व जघन्य पात्र की नवधा भक्ति भी अनर्घ्य पद देने वाली, ६. बैनाड़ा जी की असंयम मार्गणा से पूजा में विकृत अर्थ, ७. बैनाड़ा जी का श्रुत अवर्णवाद, ८. स्वयं भी मिथ्या धारणा द्वारा सम्यक् क्रिया करने वाले विद्वानों पर बैनाड़ा जी का आरोप व निराकरण, ९. आर्यिका मातायें व उत्तम श्रावक श्राविकायें उत्तम पात्र हैं, १०. आहार दान हेतु पात्र मीमांसा, ११. आर्यिका माता साधु ही हैं, १२. उपसंहार

११. चर्चा : ८ ११० से १२८

शंका - प्रथमानुयोग में पूजा शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ ?

१. बैनाड़ा जी का मंतव्य, २. स्वबचन बाधा, ३. बैनाड़ा जी द्वारा उपेक्षित सारगर्भित व सामयिक प्रश्न, ४. बैनाड़ा जी के निष्कर्षों से भी तीनों पात्रों की नवधा भक्ति की सिद्धि, ५. बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों द्वारा तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति की सिद्धि, (१. प्रमाण अ द्वारा उच्चासन व नमस्कार, २. प्रमाण आ द्वारा उत्तम श्रावक का पद आशीर्वाद देने योग्य, ३. प्रमाण - इ द्वारा अभिषेक व पाद प्रक्षालन की सिद्धि की,

४.प्रमाण - ई द्वारा पात्रों की जयमाला, ५. प्रमाण - उ द्वारा अर्घ्य समर्पण की सिद्धि), ६. तीनों प्रकार के पात्रों की पूजा मोक्ष फल को देने वाली, ७. सत्पात्रों व अपात्रों की पूजा के अर्थों में साम्य नहीं, ८. वैनाड़ा जी का सदोष मंतव्य, ९. आचार्य विद्यासागरजी महाराज की उपस्थिति में महिया जी में हुए पंचकल्याणक का उल्लेख), १०. सत्पात्र की पूजा मोक्षाचार व अपात्र की पूजा से सदाचार की सिद्धि, ११. उपसंहार, १२. चक्रवर्ती व चक्ररत्न की पूजा, १३. वैनाड़ा जी का दुःसाहस, १३. भगवन् जिनसेनाचार्य जी पर मिथ्या उपदेश का आरोप, १४. चक्ररत्न की पूजा की सिद्धि, १५. वैनाड़ा जी की शैली का यदि अनुसरण करें तो सम्पूर्ण जिनागम में दूषण दिये जा सकते हैं, १६. उपसंहार, १७. फिर मंदिर में अविरतियों की स्थापना क्यों नहीं ? १८. तीनों प्रकार के पात्रों की पूजा में प्रयोग किये जाने वाले द्रव्य, १९. पूजाविधि

१२. चर्चा : ९ (१० समन्वित) **१२९ से १३३**

शंका :- क्या अशुचि अवस्था में आर्यिका माताये पिच्छी ग्रहण कर सकती हैं ?

१. वैनाड़ा जी का स्ववचन बाधा दूषण, २. अप्रामाणिक संदर्भ की प्रमाण रूप में प्रस्तुति, ३. आगम प्रमाण से अंतरंग समितियों की सिद्धि, ४. पिच्छी मात्र उपकरण है अंतरंग समिति नहीं, ५. चा. च. परंपरा की विकृत प्रस्तुति, ६. समाधान, ७. उत्तम श्रावक, श्राविका विधान, ८. उपसंहार

१३. चर्चा : ११ **१३४ से १३६**

शंका :- अर्घ का चारित्र विशुद्धि से संबंध है या नहीं ?

१. पुनः वैनाड़ा जी का दुःसाहस, २. अन्योक्ति अलंकार, ३. कहना मुनिराजों को चाह रहे हैं, किंतु कह आर्यिका माताओं से रहे हैं, ४. कानजी भाई व वैनाड़ा जी के परिणामों में साम्यता की सिद्धि, ५. पूजा व पूज्यता विधान, ६. उपसंहार

१४. चर्चा : १२ **१३७ से १४०**

शंका - आर्यिकाओं के लिये समवशरण में कोठे का विधान

१. वैनाड़ा जी का मन्तव्य, २. वैनाड़ा जी का न्याय, ३. वैनाड़ा जी की शैली में अन्य बाधायें, ४. उपसंहार

१५. चर्चा : १३ **१४१ से १४४**

शंका :-क्या आर्यिकाओं द्वारा मुनिराजों के चरण स्पर्श करना आगम सम्मत हैं ?

१. विस्तार विवेचना फिर कभी, २. वैनाड़ा जी के मंतव्यों से उत्पन्न बाधायें, ३. फिर मुनि भी आचार्य व मुनिराजों के चरण-स्पर्श नहीं कर सकता, ४. उपसंहार

१६. निवेदन **१४५**

❑

आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं !

(अपर नाम)

आर्यिकायें असंयमी, अपूजनीय हैं

भाग - १

रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं!

(लेखक - रतनलाल बैनाड़ा, आगरा)

''जैन गजट'' दिनांक १७-२-२००० में जगत्पूज्य आर्यिकाओं की नवधाभक्ति में पाद-प्रक्षालन पूजनादि करने-कराने वालों की सेवा में उत्तर तलाशते प्रश्न-पढ़ने में आये। साथ ही जैन गजट के कई अंकों में इस विषय पर पत्र समीक्षा व अन्य समाचार मिलने से यह आवश्यक समझा गया कि इस विषय पर आगमिक समाधान अवश्य दिया जाना चाहिये, ताकि सभी धर्मप्रेमियों को वास्तविकता ज्ञात हो सके। अतः इसी आशय से यह प्रयास किया गया है। आईये, हम सभी निष्पक्ष भाव से उपरोक्त विषय पर विचार करते हैं।

चर्चा नं. १ - आगम में कितने लिंगों का वर्णन है और उनमें कौन सा लिंग पूज्य है?

समाधान - आचार्य कुंदकुंद ने दर्शन पाहुड़ में लिंगों का वर्णन इस प्रकार किया है।

एक्कं जिणस्स रुवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि ॥१८॥

अर्थ - दर्शन अर्थात् शास्त्रों में एक जिन भगवान का जैसा रूप है अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनि का लिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिंग और तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका का लिंग ये तीन लिंग कहे हैं, चौथा लिंग दर्शन में नहीं है। उपरोक्त गाथा के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन लिंग माने हैं। लेकिन उन्होंने तीनों लिंगों को समान पूज्य नहीं लिखा। वन्दनीय कौन है, इसके लिये सूत्र पाहुड़ की निम्न गाथाओं को देखें :-

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥
जो बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू ॥१२॥
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अर्थ - जो मुनि संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है, वही सुरअसुर और मनुष्यों से युक्त लोक में वन्दनीय हैं ॥११॥

जो बाईस परीषह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियों से सहित हैं तथा कर्मों के क्षय एवं निर्जरा में कुशल हैं, ऐसे मुनि वंदना करने योग्य हैं ॥१२॥

मुनिमुद्रा के सिवाय जो अन्यलिंगी हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से सहित है तथा वस्त्र के

धारक हैं ऐसे क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका आदि इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं ।।१३।।

उपरोक्त गाथाओं के अनुसार मुनिलिंग के अलावा अन्य लिंग वन्दनीय नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। अतः जब वस्त्रधारी वन्दनीय (नमोस्तु के योग्य) ही नहीं है, तब उसकी पूजा कैसे की जा सकती है ?

चर्चा नं. २ - आर्यिकाओं को आगम में संयमी कहा या नहीं ?

समाधान - वास्तव में आर्यिकायें देश संयमी (असंयमी) की कोटि में ही है, यदि कहीं प्रसंगवश आर्यिका को संयमी या संयत शबंद से संबोधन किया गया भी है, तो वह उपचार महाव्रतों को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। वस्तुतः देशसंयम, असंयम मार्गणा में ही आता है, जो निम्न प्रमाणों से स्पष्ट हैं :-

(अ) **ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविह संजमोद्धरणं ।**
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ।।९५।। (भाव संग्रह)

अर्थ - उन स्त्रियों के दोनों प्रकार का संयम अर्थात् इन्द्रिय संयम, प्राणी संयम नहीं होता है। इसलिये संयम धारण नहीं होने से उस जन्म से उनको मोक्ष नहीं कहा है। असंयमी की वंदना के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट लिखते हैं :-

(आ) **असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि सो ण वंदिज्ज ।**
दुण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।।२६।। (दर्शन पाहुड़)

अर्थ - असंयमी को नमोस्तु नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र रहित होकर भी असंयमी है, वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं। दोनों में एक भी संयमी नहीं है।

(इ) महाशास्त्र धवल पु. १ (प्रकाशन-सोलापुर १९९२) पृष्ठ ३३५ पर भगवद् वीर सेनाचार्य, स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं :-

सवासस्त्वाद् प्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्य विरुद्धं इतिचेत ? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भन्नासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथा-नुपपत्तेः ।

अर्थ - वस्त्र सहित होने से उनके संयतासंयतगुणस्थान होता है। अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका : वस्त्र सहित होते हुये भी उन द्रव्यस्त्रियों के भाव संयम के होने में कोई विरोध नहीं है ?

समाधान - उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि अन्यथा, अर्थात् भाव संयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

(ई) सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद अध्याय - ९ सूत्र-१ की टीका में लिखते हैं -

असंयमस्त्रिविधः । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानोदय विकल्पात् ।

अर्थ - असंयम के तीन भेद हैं - अनंतानुबंधी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय और प्रत्याख्यानावरण का उदय/आर्यिका व क्षुल्लकों के पंचम गुणस्थान होता है, उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय सतत् रहता है। अतः उनको असंयमी कहा जाता है।

(उ) 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द अधिकार-३ गाथा २२४-७ में इस प्रकार कहते हैं :-

लिंग हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥२२४-७॥

अर्थ - स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनिस्थान में स्तनों के नीचे, नाभि प्रदेश तथा कांख प्रदेश में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कही गयी है, इस कारण से उनके संयम कैसे हो सकता है ?

चर्चा नं. ३ - आगम में स्त्रियों के दीक्षा कहीं है या नहीं ?

समाधान - आचार्य कुन्दकुन्द सूत्र पाहुड़ में लिखते हैं :-

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

अर्थ - स्त्रियों की योनि में स्तनों के बीच में, नाभि और कांख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव कहे गये हैं, अतः उनके प्रव्रज्या (दीक्षा) कैसे हो सकती है।

चर्चा - यदि स्त्रियों में दीक्षा नहीं होती है, तो उन्हें पंच महाव्रत क्यों दिये जाते हैं ?

समाधान - यह सत्य है, किन्तु सज्जाति (स्त्री पर्याय के व्रतों की उत्कृष्टता) को बतलाने के लिये महाव्रतों का उपचार होता है, यथार्थ में महाव्रत न होने पर भी उनकी स्थापना की जाती है।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया ॥२५॥ (सूत्र पाहुड़)

अर्थ - यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तो वह भी मार्ग से युक्त कही गई है। फिर भी कठिन चरित्र का आचरण करते हुये भी स्त्रियों के प्रव्रज्या (दीक्षा) नहीं कही गई है।

देशव्रतान्वितैस्तासा मारोप्यन्तेः बुधैस्ततः ।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥८९॥ (आचार सार)

अर्थ - इसलिये बुद्धिमानों के द्वारा उन आर्यिकाओं के सज्जाति की ज्ञप्ति के लिये उपचार से देशव्रतों से युक्त, महाव्रत आरोपण किये जाते हैं।

कर्मकाण्ड गाथा ७८७ में पंचम गुणस्थानवर्ती के (भले ही वह आर्यिका, क्षुल्लक आदि हों) बंध के तीन प्रत्यय बताये हैं। गाथा इस प्रकार है :-

चदुपच्चइगो बंधो पढ़मे णंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगबिदियं उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्मि ॥७८७॥

अर्थ - मिथ्यादृष्टि के ४ प्रत्ययों से बंध होता है, उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व के बिना ३ प्रत्ययों से ही बंध है, किन्तु एक देश असंयम के त्यागने वाले देश संयम गुणस्थान में दूसरा अविरित प्रत्यय विरत कर मिला हुआ है तथा आगे दो प्रत्यय पूर्ण ही हैं। इस प्रकार पाँचवें गुणस्थान में तीनों (अविरति, कषाय, योग) कारणों से बंध होता है।

वास्तविकता तो यह है कि आर्यिकाओं के संपूर्ण २८ मूलगुण ही नहीं होते। उनके वस्त्र धारण करने के कारण स्पर्शन इन्द्रियजय, अपरिग्रह महाव्रत तथा नग्नत्व ये तीन मूलगुण नहीं होते। बैठकर आहार लेने से एक मूलगुण नहीं होता। मासिक स्त्राव होने से तथा अंगों से सम्मूर्छन मनुष्यों की हिंसा होने से अहिंसा महाव्रत नहीं होता। मासिक धर्म के उपरांत स्नान से शुद्धि होती है, अतः इनके अस्नान मूलगुण भी अखंड नहीं पलता। मूलगुण ही जब पूरे नहीं हैं तो उनको मुनियों के समान कैसे माना जा सकता है।

उपरोक्त सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि आर्यिकाओं को संयमी नहीं कहा जा सकता है।

चर्चा नं. ४ क्या आर्यिका पूज्य है ?

समाधान - हमारे पूज्य नवदेवता होते हैं :- १) अरिहंत २) सिद्ध ३) आचार्य ४) उपाध्याय ५) साधु ६) जिनधर्म ७) जिनागम ८) जिनचैत्य ९) जिनचैत्यालय।

अरहंत सिद्ध साहू तिदयं जिण धम्म वयण पडिमाहू।
जिणणिलया इदिराए, णवदेवा दिन्तु मे बोहि ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक नं. ११९ टीका पं. सदासुखदासजी)

अर्थ - अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा, जिनालय इस प्रकार ये नवदेवता हैं ते मोकूं रत्नत्रय की पूर्णता देओ। इनमें आर्यिका या क्षुल्लक आदि को कोई स्थान नहीं है।

अपने जीवन में हमने बीसों जिनवाणी संग्रह एवं पूजा पाठ संग्रह देखे हैं, लेकिन किसी भी जिनवाणी संग्रह में हमें आर्यिकाओं की पूजा या उनको चढ़ाये जाने वाले अर्घ्य आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुये। कोई भी पुजारी पूजा करते समय आर्यिकाओं को अर्घ्य नहीं चढ़ाता, जबकि सभी साधु परमेष्ठी की पूजा करते हैं व अर्घ्य नित्य चढ़ाते हैं। वर्तमान में कुछ विधान आदि में आर्यिका पूजा का जबरन प्रवेश करा दिया गया है, जो उचित नहीं है।

आचार्यों का यह कथन परम सत्य है कि हम वीतराग प्रभु की पूजा करने वाले उनकी पूजा कैसे करें, जिनके पास अभी सोलह हाथ की साड़ी रूप परिग्रह हो या जिन्होंने अभी पाँच पापों का

भी पूर्णतया त्याग न किया हो। ऐसा भी कुछ विद्वान कहते हैं कि आर्यिका पीछी आदि संयम के उपकरण रखती हैं, इसलिये पूज्य हैं। यह बात भी सिद्ध नहीं होती। पीछी तो भट्टारक लोग भी रखते हैं, पर असंयमी होने के कारण कैसे पूज्य कहे जा सकते हैं। वास्तव में तो भट्टारकों के पास पीछी होनी ही नहीं चाहिए ?

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि आर्यिकायें न तो संयमी की कोटि में आती है और न वे मुनिवत् पूजा के योग्य ही हैं।

चर्चा नं. ५ क्या आगम में उपचार से महाव्रती मानने पर उनको मुनि-तुल्य मानना उचित है ?

समाधान - कोई उपचार से महाव्रती मानकर आर्यिकाओं को पूजा के योग्य कहते हैं, जो कथन उचित नहीं है, क्योंकि उपचार से महाव्रत तो आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावक के भी कहा है। जो निम्न प्रमाण से स्पष्ट है :-

(अ) रत्नकरंडक श्रावकाचार :-

प्रत्याख्यान तनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः ।
सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१॥

अर्थ - प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मंद उदय होने से अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त हुये, यहाँ तक कि, जिनके अस्तित्व का निर्धारण करना भी कठिन है, ऐसे चरित्र मोह के परिणाम महाव्रत के व्यवहार के लिये उपचारित होते है - कल्पना किये जाते हैं।

(आ) जैसा सर्वार्थसिद्धि अध्याय-७ सूत्र - २१ की टीका में इस प्रकार कहा है :-

इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यं। कुतः ? अणुस्थूलकृतहिंसादि निवृतेः। संयमप्रसंग इति चेत्। न, तद्घातिकर्मोदय सद्भावात्। महाव्रतत्वाभाव इति चेत्। तन्न, उपचाराद् राजकुले सर्वगत चैत्राभिधानवत्।

अर्थ - इतने देश में और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गई सामायिक में स्थित पुरुष के पहले के समान महाव्रत जानना चाहिये, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है।

शंका - यदि ऐसा है, तो सामायिक में स्थित हुए पुरुष के सकल संयम का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि इसके संयम का घात करने वाले कर्मों का उदय पाया जाता है।

शंका - तो फिर इसके महाव्रत का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं क्योंकि जैसे राजकुल में चैत्र (बौद्ध भिक्षु) को सर्वगत उपचार से कहा जाता है, उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचार से जानना चाहिये।

(आ) सागार धर्मामृत के अध्याय - ५/४ में इस प्रकार कहा है -

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः ।
महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥१४॥

अर्थ - अणुव्रती का प्रत्याख्यानावरण जनित चारित्र मोह का उदय अतिशय मन्दता के कारण किसी लक्ष्य में नहीं आता। इसलिये दिग्व्रत का पालक अणुव्रती दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर महाव्रती कहा जाता है।

(इ) पुरुषार्थसिद्धियुपाय श्लोक १६० में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं :-

इत्थमशेषित हिंसः, प्रयासि स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्र मोहे, लभते तु न संयम स्थानम् ॥१६०॥

अर्थ - इस प्रकार की हिंसाओं से मुक्त होने से यह श्रावक उस समय उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है, किन्तु चरित्र मोह कर्म के उदयसे वह संयम-स्थान को नहीं पाता है।

(ई) श्रावकाचार संग्रह भाग - १ पृष्ठ २४५ पर लिखते हैं कि :-

हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्त चित्तोऽभ्यन्तर प्रत्याख्यान संयम घाति कर्मोदय जनित मन्दाविरति परिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपचर्यते। (चरित्र सार)

अर्थ - यद्यपि उसके भीतर संयम का घात करने वाले प्रत्याख्यानावरण कषाय रूप के उदयजनित मंद अविरत परिणाम पाये जाते हैं, तथापि हिंसादिक सर्वसावद्य योग में अनासक्त चित्त होने से उसके अणुव्रतों को उपचार से महाव्रत कहा जाता है।

(उ) प्रवचनसार गाथा नं. २२४-८ (अनेकांत विद्वत् परिषद्) पृष्ठ ५३०

अथमतम् - यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम् ?

परिहारमाह - तदुपचारेण कुल व्यवस्था निमित्तं। न चोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति, अग्निवतं क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् तथा चोक्तम्-मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।

शंका - यदि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है तो आपके मत में किसलिये आर्यिकाओं को महाव्रतों का आरोपण किया गया है ?

समाधान - यह उपचार कथन, कुल की व्यवस्था के निमित्त कहा है। जो उपचार कथन है वह साक्षात् नहीं होता। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टांत में अग्नि का मात्र दृष्टांत है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियों के महाव्रत जैसा आचरण है, महाव्रत नहीं, क्योंकि मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन तथा निमित्त के वश उपचार प्रवर्तता है, ऐसा आर्ष वाक्य है।

इसके अलावा अन्य बहुत से श्रावकाचारों में श्रावक को उपचार मुनि-तुल्य कहा है, तो क्या सभी प्रतिमाधारकों की मुनि की तरह नवधा भक्ति की जाये? कदापि नहीं।

आर्यिकाओं के लिए प्रवचनसार गाथा २२४ के उत्तरान्त ९ गाथाओं में यह स्पष्ट है कि ये मुनितुल्य क्यों नहीं है ? ये प्रमाद से भरी हुई होती है, इनके चित्त में निश्चय से मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा माया होती है, कोई भी स्त्री निर्दोष नहीं पाई जाती, उनके चित्त में काम का उद्रेक, शिथिलपना, मासिक स्राव का बहना, सूक्ष्म मनुष्यों की हिंसा पाई जाती है आदि।

चर्चा नं. ६ - क्या आगम में आर्यिका आदि को नवधाभक्ति का उल्लेख मिलता है?

समाधान - इस प्रश्न के उत्तर में हमारी तो निष्पक्ष राय है कि किसी भी शास्त्र में आर्यिकाओं की नवधा भक्ति करने का उल्लेख नहीं है। व्यर्थ परिश्रम करके आर्यिका की नवधा-भक्ति सिद्ध करने का प्रयास क्यों किया जाता है ? सभी आचार्यों ने मुनियों की ही नवधा भक्ति करने का विधान मात्र ही किया है। जो अर्थापत्ति न्याय से यह सिद्ध करता है कि अन्य कोई भी पात्र या व्रती वगैरह नवधा भक्ति के योग्य नहीं है। नवधा भक्ति कहां-कहां करनी चाहिये ? इसका उल्लेख कैसे करना संभव है ? करुणादान से पहले, कन्यादान से पहले, समदत्ती दान से पहले, नवधा भक्ति की जाये या नहीं, यह भी आचार्यों ने कहीं नहीं किया है तो क्या इन दोनों के पूर्व नवधा भक्ति होनी चाहिये, क्योंकि निषेध तो किया नहीं ? और भी शास्त्रों में नवकोटि की अष्टद्रव्य से पूजा का विधान तो लिखा है, पर अपने पुत्र की, अपनी पत्नि की, अपनी कन्या की तथा अपनी पुत्रवधू आदि की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं करनी चाहिये, यह कहीं नहीं लिखा है तो क्या इनकी भी अष्टद्रव्य से पूजा होनी चाहिये, क्योंकि निषेध तो लिखा नहीं है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार वर्णन नहीं किया जाता। जहाँ जो कार्य करना होता है उसका वर्णन किया जाता है। जो यह भी बताता है कि उसे अन्य प्रसंगों में नहीं करना चाहिये। इस विषय में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि की नवधा-भक्ति पूर्वक आहार देने तथा आहार के समय पाद-प्रक्षालन, अर्घ्य-समर्पण आदि करने का एक भी प्रसंग किसी भी पौराणिक ग्रन्थ में देखने में नहीं आया, जबकि मुनियों की जहाँ कहीं भी आहारचर्या का प्रसंग आया है, पुराण ग्रन्थों में उनकी पूजा आदि का भी स्पष्ट उल्लेख है। यदि पुराणकारों को आर्यिका आदि की, मुनियों की तरह, नवधाभक्ति इष्ट होती तो कहीं न कहीं उसका उल्लेख अवश्य किया जाता, जबकि ऐसा कहीं भी नहीं है।

(यह बात कितनी विचित्र लगती है कि उपचार से महाव्रत धारण करने वाली आर्यिकाओं को अपनी पूजा, परिक्रमा आदि बाह्य मान-मर्यादा का इतना अधिक आग्रह है कि जहाँ इस प्रकार उनकी भक्ति का प्रदर्शन न हो वहां के सुश्रावकों से शुद्ध आहार भी लेना उन्हें स्वीकार नहीं होता। जो जबरन अपने अर्घ चढ़वाएं, अपनी नवधाभक्ति कराये, क्या उसे आर्यिका कहा जा सकता है ?) (आध्यात्म पर्व पत्रिका अग. २००० से)

चर्चा नं. ७ - क्या तीनों प्रकार के पात्रों को नवधाभक्ति होनी चाहिये ?

समाधान - कुछ लोगों का कहना है कि तीनों प्रकार के पात्रों को नवधा-भक्ति पूर्वक ही आहार देने का विधान है। अतः नवधाभक्ति होना ही चाहिये। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो किसी भी श्रावकाचार में तीनों प्रकार के पात्रों की समान रूप से नवधाभक्ति करने का उल्लेख ही नहीं है। सर्वत्र उनकी यथा योग्य भक्ति का ही उल्लेख है। जिन ग्रन्थों में इनका उल्लेख है भी, वे एकदम अर्वाचीन है (दानशासन, सुधर्मश्रावकाचार, श्रमण संघ संहिता) उन्हें प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उनमें अन्य भी आगम विरुद्ध कई बातें हैं। दूसरी बात यदि हम यथायोग्य भक्ति न कर समान रूप से नवधाभक्ति करते हैं तो जघन्य पात्र असंयम सम्यग्दृष्टि और ब्रह्मचारी भाई बहनों की भी नवधाभक्ति करने का प्रसंग आता है। अतः आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि की नवधाभक्ति का आग्रह आगम के अनुकूल न होकर मिथ्यात्व का सम्पोषक है -

क्षुल्लकों के बारे में जैन गजट दि. २४-४-१९९७ में इस प्रकार छपा था - "क्षुल्लक ऐषणादोष से रहित एक बार भोजन करें। दाढ़ी, मूंछ तथा सिर के बालों को छुरे से मुंडवायें, अतिचार लगने पर प्रायश्चित्त करें। निर्दिष्ट काल में भोजन के लिये भ्रमण करें। भ्रमर की तरह ५ घरों में से पात्र में भिक्षा लेकर, उनमें से किसी एक घर में प्रासुक जल देखकर कुछ क्षण अतिथिदान के लिए प्रतीक्षा करें। यदि देव वश पात्र प्राप्त हो तो उसे गृहस्थ की तरह दान दें। शेष बचे उसे स्वयं खावें, अन्यथा उपवास करें। (सागार धर्मामृत १६/२९ विशेषार्थ)

जब इस प्रकार क्षुल्लक पांच घर से भिक्षा लाकर भोजन करता है, तब उनकी नवधाभक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

कोई आर्यिकाओं को उत्कृष्ट पात्र में ही उपचार से मानते हैं। उनकी ऐसी मान्यता बिल्कुल आगम-सम्मत नहीं है। सभी आचार्यों ने उत्तम पात्र में परिग्रह रहित मुनियों को ही लिया है। उदाहरण के लिये आचार्य कुन्दकुन्द की बारसाणुवेक्खा गाथा नं. १७, १८ का अवलोकन करें।

उत्तम पत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिम पत्तो हु विण्णेयो ॥१७॥
णिद्दिट्ठो जिण समये, अविरद सम्मो जहण्ण पत्ते त्ति।
सम्मत रयण रहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा है और सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिये ॥१७॥

जैन आगम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है और जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित है वह अपात्र है। इस प्रकार पात्र की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये।

उपरोक्त गाथाओं से बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्यिकाओं को उत्तम पात्र कहना बिल्कुल आगम-सम्मत नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनि को ही उत्तम पात्र माना है।

चर्चा नं. ८ प्रथमानुयोग में "पूजा" शब्द का प्रयोग, किस अर्थ में हुआ है ?

समाधान - कुछ लोग पुराण ग्रंथों में आये कुछ प्रसंगों का उल्लेख आर्यिका, क्षुल्लक आदि की पूजा के प्रमाण स्वरूप करते हैं, लेकिन उन प्रमाणों का अर्थ भी नवधाभक्ति नहीं है। जहाँ कहीं भी क्षुल्लक आदि के अर्घ्य अथवा पूजा का प्रसंग आया है; वह उनके सम्मान के अर्थ में ही लिया गया है। पूजा का अर्थ सम्मान और सत्कार भी होता है। आये हुये सत्पात्र का सत्कार करना गृहस्थ का कर्तव्य है, किन्तु सत्कार और पूजा अलग-अलग है। पूजा का अर्थ आराधना है, जबकि सत्कार शिष्टाचार का अंग है। यदि ऐसा न माना जाए तो उन्हीं पुराणों में अनेक स्थानों पर अव्रती स्त्रियों तथा राजा-महाराजाओं की पूजा और अर्घ्य का भी उल्लेख है। क्या इस कथन से हम उनकी पूजा को पंच परमेष्ठी की पूजावत् पूजा मानेंगे ? तिलोयपण्णत्ति में कुलकरों की पूजा का भी उल्लेख है। क्या व्रत, संयम रहित कुलकरों की मुनियों की तरह पूजा करना जैन धर्म के अनुकूल है ?

तिलोय पण्णत्ति अधिकार - ४

सोऊण तस्सवयणं संजादाणिब्भया तदा सव्वे।
अच्चंति चलण-कमले, थुणंति बहुविह-पयारेहिं ॥४३६॥

अर्थ - इस प्रकार उन (प्रतिश्रुति/कुलकर) के वचन सुनकर वे सब नर-नारी निर्भय होकर बहुत प्रकार से उनके चरण कमलों की पूजा और स्तुति करते हैं।

(आ) आचार्य समन्तभद्र ने मातंग चांडाल तथा धनदेवादिक की प्रशंसा करते हुए लिखा है (रत्नकरण्डक श्रावकाचार) :-

मातंगो धनदेवश्च, वारिषेणः ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ता, पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

अर्थ - मातंग (यमपाल) चांडाल, धनदेव, वारिषेण राजकुमार, नीली और जयकुमार ये क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुये हैं। (क्या इस श्लोक में पूजा का अर्थ जिनेन्द्र पूजा के समान, पूजा है ?)

(इ) आदिपुराण में इस प्रकार वर्णन है (पर्व १४)

ततस्ते जगतां पूज्यो, पूजयामास वासवः।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकैः ॥७८॥

अर्थ - तत्पश्चात इन्द्र ने नाना प्रकार के आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रों से उन जगपूज्य माता-पिता की पूजा की।

क्या उपरोक्त श्लोक में पूजा का अर्थ अनर्घपद की कामना से की जाने वाली पूजा है, या इन्द्र के मन में भगवान के माता-पिता के प्रति उमड़े आदर भाव की अभिव्यक्ति है ?

(ई) भगवान ऋषभदेव के प्रथम आहार के उपरान्त राजा श्रेयांस की पूजा का उल्लेख करते हुए हरिवंशपुराण कार (आ. जिनसेन) ने लिखा है (सर्ग-९ श्लोक १९६):-

अभ्यर्चिते तपोवृद्धयै, धर्म तीर्थंकरे गते ।
दानतीर्थकरं देवाः साभिषेकम्पूजयन् ॥

अर्थ - पूजा होने के बाद जब धर्म- तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तप की वृद्धि के लिये वन को चले गये, तब देवों ने अभिषेक पूर्वक दान तीर्थंकर राजा श्रेयांस की पूजा की।

क्या देवताओं द्वारा की गई राजा श्रेयांस की यह पूजा जैनागम-मान्य जिन पूजावत् है ? क्या देवों ने भगवान की तरह राजा श्रेयांस का अभिषेक और पूजन किया था। इतना ही नहीं, आदिपुराण के अनुसार तो सम्राट भरत ने राजा श्रेयांस को भगवान की तरह पूज्य भी कहा है (सर्ग २०, श्लोक १२७):-

(उ) **अदृष्टं पूर्वं लोकेस्मिन्, दानं कोऽर्हति वेदितुम् ।**
भगवानिवपूज्योसि, कुरुराजचमद्य नः ॥

अर्थ - इस संसार में पहले कभी नहीं देखी हुई इस दान की विधि को कौन जान सकता है ? हे कुरुराज, आज तुम हमारे लिये भगवान के समान ही पूज्य हुये हो।

चक्रवर्ती के द्वारा राजा श्रेयांस के लिये दिया गया यह संबोधन उनके प्रति उत्कृष्ट सम्मान का सूचक है या भगवान की तरह पूज्यता का ?

अतः स्पष्ट है कि उक्त सभी संदर्भों में प्रयुक्त पूजा शब्द सत्कार और सम्मान का वाची है, न कि आराधना का। अन्यथा अव्रतीकुलकर और मातंग चांडाल से लेकर राजा श्रेयांस तक की पूजा का प्रसंग आता है। दिगंबर मुनि के अतिरिक्त अन्य जितने भी लिंगी (क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका) हैं वे आदर और सत्कार के तो पात्र हैं, पर अष्ट द्रव्य से पूजा के नहीं। पूजा मात्र निर्ग्रन्थों की ही होती है। इसलिये मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति ॐ ह्रीं श्रीं...अनर्घ्यपद प्राप्ताये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा बोलकर अर्घ चढ़ाना या चढ़वाना या पूजा कराना/करवाना आगम का अपलाप है। प्रथमानुयोग के जो ग्रंथ भट्टारकों द्वारा लिखे गये हैं, उनमें स्वयं को पूजा के योग्य बताने के लिये जबरन क्षुल्लकों को अर्घ देना उल्लखित कर दिया है - उदाहरण नीचे देखें :-

(अ) प्रद्युम्न चरित्र सर्ग - ३ श्लोक ११२ पृष्ठ १३-१४

श्रीकृष्ण ने क्षुल्लक पद धारी नारद के पाद प्रक्षालन कर अर्घ्य चढ़ाया।

समीक्षा - इसी प्रसंग को हरिवंशपुराण कार ने सर्ग - ४२, श्लोक ८-९ में इस प्रकार लिखा है। (अर्थ पं. पन्नालालजी कृत)

द्वारिका विभवालोक स्वशिरः कम्प विग्रहम् ।
तेऽवतीर्णं तमालोक्य, सह सोत्थाय पार्थिवाः ॥(८)
नमस्यासन दानादि सोपचारेण सक्रमम् ।
पूजयन्तिस्मसंमानमात्रेण परितोषिणम् ॥ (९)

अर्थ - द्वारिका का वैभव देख आश्चर्य से जिनका सिर तथा शरीर कम्पित हो रहा था, ऐसे नारदजी का आकाश से नीचे उतरते देख सब राजा लोग सहसा उठकर खड़े हो गये।

सम्मान मात्र से संतुष्ट हो जाने वाले नारदजी का सबने नमस्कार तथा आसन दान आदि उपचारों से क्रमपूर्वक सम्मान किया।

(आ) प्रद्युम्न चरित्र सर्ग - ८ पृष्ठ १५७

विजयार्द्ध के मेघकूट नरेश महाराज काल संवर ने नारद के पाद-प्रक्षालन कर अर्घ्य चढ़ाया।

समीक्षा - हरिवंश पुराण सर्ग - ४३, श्लोक - २२८ पर यह प्रसंग इस प्रकार है -

प्रणामेनार्चितस्तेषां, दत्वाशिष मति द्रुतम् ।
वियद्गत्पत्य संप्राप्तो, द्वारिका नारदो मुनिः ॥२२८॥

अर्थ - कालसंवर आदि ने नमस्कार कर नारद का सम्मान किया, तदनन्तर आशीर्वाद देकर वे आकाश में उड़कर द्वारिका आ पहुँचे।

प्रथमानुयोग में महाराज भरत के द्वारा चक्ररत्न की पूजा का प्रसंग भी लिखा है, जिसका अर्थ होता है कि केवल मांगलिक क्रिया सम्पन्न की। सभी चक्रवर्ती चक्ररत्न की पूजा करते हैं। वास्तव में चक्रवर्ती क्या करता है, इसके लिये तिलोयपण्णत्ति भाग-२ की गाथा नं. १३१५ को देखें :-

चक्कुप्पत्ति पहित्ता, पूजं कादूर्ण जिणवरिंदाणं ।
पच्छा विजय-पयाणं, ते पुव्व-दिसाए कुव्वंदि ॥

अर्थ - चक्र की उत्पत्ति से अतिशय हर्ष को प्राप्त हुये वे चक्रवर्ती जिनेन्द्रों की पूजा करके, पश्चात् विजय के निमित्त पूर्व दिशा में प्रयाण करते हैं। (जिस बात का प्राचीन आगम स्पष्ट मिल रहा हो, उस विषय में अर्वाचीन कथन समीचीन नहीं माना जा सकता)।

वास्तव में क्या चक्ररत्न जैसी जड़वस्तु की, जिनेन्द्र पूजा की तरह, पूजा आगम-मान्य हो सकती है ? क्या भरत चक्रवर्ती जैसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की जड़ वस्तु की, जिनेन्द्र भगवान् की तरह पूजन कर सकता है? कभी नहीं।

चर्चा नं. ९ - चारित्र चक्रवर्ती आ. शांतिसागरजी महाराज के संघ में क्षुल्लक तथा क्षुल्लिकाओं की नवधाभक्ति की क्या परंपरा थी?

समाधान - चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आ. शांतिसागरजी महाराज के संघ में कभी-भी क्षुल्लक आदि को अर्घ्य चढ़ाने की परम्परा नहीं थी। उन्होंने क्षुल्लक-ऐलक अवस्था में कभी अर्घ्य नहीं चढ़वाये। इसके समाधान में कृपया अजितमति साधना स्मृति ग्रन्थ (लेखिका ब्र. रेवती दोसी) के पृष्ठ ३३ पर प्रकाशित आचार्य शांतिसागरजी से दीक्षित सबसे अन्तिम क्षुल्लिका अजितमतिजी के साथ पं. प्रवीणचन्द्र के किये गये प्रश्नोत्तरों को देखने का कष्ट करें। (क्षुल्लिका माताजी की समाधि सन १९९१ में हो चुकी है)

पंडितजी - रजस्वला अवस्था में आर्यिका या क्षुल्लिकाओं को पिच्छि लेने के लिये आचार्य महाराज की अनुमति थी या नहीं ?

अम्माजी - नहीं, हम लोग उस अवस्था में मृदु वस्त्र इस्तेमाल करते थे। (देखें जैन गजट दि. ७-३-१९९१ अंतिम पृष्ठ पर छपा है, आचार्यश्री के संघ में (अर्थात् चा. चक्रवर्ती पू. आचार्य शांतिसागरजी महाराज के संघ में) क्षुल्लिकायें, आर्यिकायें, अशुचि अवस्था में पीछियां ग्रहण नहीं करती थी।)

पं. जी का प्रश्न -क्षुल्लिका/क्षुल्लक को पड़गाहन कर लेने के बाद चौके में उनके पांव धोने की परम्परा आपके संघ में है या नहीं ?

अम्माजी का समाधान -नहीं, क्षुल्लिकाओं के धातुओं के कमण्डलु में पानी नहीं रहता, उनके पांव उन्हें चौके में ले जाने के पहले धोना चाहिये। क्षुल्लकों के बारे में तो सवाल ही नहीं उठता। उनके लकड़ी के कमण्डलु में श्रावकों के द्वारा दिया गया सोले का जल होता है। वे स्वयं चौके के बाहर अपने पांव धोते हैं।

इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट होता है कि चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आ. शान्तिसागरजी महाराज के संघ में क्षुल्लकों आदि के पाद-प्रक्षालन आदि की परम्परा नहीं थी। वे क्षुल्लक के पाद-प्रक्षालन को आवश्यक नहीं मानते थे। क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी ने भी कभी अपना पाद-प्रक्षालन आदि नहीं कराया। वर्णी मनोहरलालजी भी कभी अपना पाद-प्रक्षालन नहीं करवाते थे।

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि आर्यिका एवं क्षुल्लक आदि संयमी की कोटि में नहीं आते। वे देशसंयमी हैं और मुनिवत् पूज्य नहीं है। अतः नवधाभक्ति के अधिकारी सिद्ध नहीं होते। उनकी नवधाभक्ति करने का कोई विधान किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता। आर्यिका आदि को अर्घ्य देने की परम्परा भी चा. चक्रवर्ती आ. शान्तिसागरजी के संघ में नहीं थी। अतः यह परम्परा न तो मूलरूप से गुरुपरम्परा है न आगम परम्परा है।

चर्चा नं. १० आगम परंपरा तथा गुरु परंपरा में कौन सी परंपरा अधिक ग्रहणीय है ?

समाधान - विवेकियों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन आगम-परम्परा एवं गुरु-

परम्परा में आगम परम्परा उत्कृष्ट है, गुरु परम्परा नहीं। जो गुरु परम्परा आगम-सम्मत नहीं है, उसके बदलने में हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिये। चा.च. आचार्य शांतिसागरजी महाराज, गुरु-परंपरा न मानते हुये आगम-परंपरानुसार ही चर्या करते थे। चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ पृष्ठ ४१२ पर लिखा है - "आचार्य महाराज को क्षुल्लक पद प्रदान करने वाले मुनि देवप्पा स्वामी के समय में मुनि-पद में बहुत शिथिलता थी। उस समय देवप्पा स्वामी आहार को जाते थे, पश्चात् दातार से सवा रुपये लेते थे। आचार्य महाराज ने क्षुल्लक पद में भी ऐसा नहीं किया। इस पर देवप्पा स्वामी कहते थे - तुम रुपया लेकर हमें दे दिया करो। आगम-प्रणेता आचार्य महाराज को यह बात अनिष्ट लगी, अतः महाराज ने देवप्पा स्वामी (अपने दीक्षा गुरु) का साथ छोड़ दिया था।

इसके अलावा और भी बहुत उदाहरण स्पष्ट कराते हैं कि गुरु परंपरा की बजाय आगम परंपरा का अनुसरण ही श्रेष्ठ है।

चर्चा नं. ११ क्या आर्यिका यदि अर्घ चढ़वाकर ही आहार करे, तो उसकी चारित्र की विशुद्धि में अंतर पड़ता है ?

समाधान - यह भी स्पष्ट है कि अर्घ्य चढ़वाने पर ही यदि कोई आर्यिका आहार ग्रहण करती है तो उससे उस आर्यिका के गुणस्थान में या चारित्र में या चारित्र की विशुद्धता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर भी इस परंपरा पर जोर देने का क्या औचित्य है ? पू. आर्यिकाओं से निवेदन है कि यदि कोई उन्हें आहार के पूर्व अर्घ्य न चढ़ाये तो उनको इसमें कुछ भी अंतर न मानकर आहार ग्रहण कर लेना चाहिये।

चर्चा नं. १२ आर्यिकाओं के लिये समवशरण के कोठे का विधान ?

समाधान - समवशरण में भी पुरुषों के लिए कोष्ठा नं. १ और कोठा नं. ११ दिया गया है अर्थात् मुनिराज को अलग और श्रावकों को अलग, पर स्त्रियों में आर्यिकाओं और श्राविकाओं को एक ही कोठा दिया गया है, जो इस बात का परिचायक है कि आर्यिकायें मुनि-तुल्य नहीं होती, वरना उनको भी अलग कोठा दिया जाता।

चर्चा नं. १३ क्या आर्यिकाओं द्वारा आचार्य या मुनिराज के चरण स्पर्श करना आगम सम्मत है ?

समाधान - आर्यिका यदि आचार्य आदि के पास आलोचना आदि करने जाती है, तो कैसे करती है इस संबंध में श्री मूलाचार गाथा १९५ इस प्रकार है :-

पंच छ सत्त हत्थे , सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ, गवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥

अर्थ - आर्यिकायें आचार्य को पांच हाथ से उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात

हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वंदना करती है।

आचारवृत्ति - आर्यिकायें आचार्य के पास आलोचना करती है, अतः उनकी वंदना के लिये पांच हाथ के अंतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती है। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है, अतः उन्हें छह हाथ के अंतराल से नमस्कार करती है तथा साधु की स्तुति करनी होती है, अतः वे सात हाथ के अंतराल से उन्हें नमस्कार करती है, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

मूलाचार प्रदीप श्लोक नं. २३१३-२३१४ में भी इसी प्रकार वर्णन है। आचार सार श्लोक नं. ८५ मे लिखा है -

नमन्ति सूर्यापाध्याय साधून्नार्या यथाक्रमम्।
पंचषट्सप्तहस्तान्तरालस्थाः गशुश्याः ॥८५॥

अर्थ - आर्यिका गवासन से आचार्य, उपाध्याय और साधु का यथा क्रम से पांच, छह और सात हाथ के अन्तराल (दूरी) में स्थित होकर नमस्कार करती है।

उपरोक्त सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यिका को आचार्य या मुनि के चरण-स्पर्श कदापि नहीं करने चाहिये। वर्तमान में जो आर्यिकायें अपने आचार्य या अन्य मुनि के चरण स्पर्श करती हैं, उनका ऐसा करना आगम सम्मत नहीं है।

❑

सारांश और निवेदन -

उपरोक्त सभी बिन्दुओं का सारांश यही है कि आर्यिकाओं की नवधाभक्ति न तो मूल परंपरा है और न आगम सम्मत ही है। उपरोक्त लेख के द्वारा पूज्य आर्यिकाओं की विनय या सम्मान में कोई कमी करने का आशय रंच मात्र भी नहीं है। यह सत्य है कि श्राविकाओं से आर्यिकायें महान् हैं। मैं स्वयं बहुत से आर्यिका संघों में जाता हूं, और भक्तिभाव से उनका दर्शन विनय करता हूं। यह भी आशय नहीं है कि आर्यिकाओं व श्राविकाओं में कोई अन्तर न माना जाये। कहना मात्र इतना है कि पूज्य आर्यिकायें, मुनितुल्य संयमी या मुनिवत् पूजा के योग्य नहीं है।

जिस प्रकार आर्यिकाओं की नवधाभक्ति आगम-सम्मत सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार यज्ञोपवीत धारण करने वाले से ही आहार लेने की परम्परा भी आगम-परम्परा नहीं है। शुद्र जल के त्यागी से ही आहार लेने की परम्परा आगम-परम्परा नहीं है। सज्जातित्व की वर्तमान परिभाषा भी आगम-उल्लेखित नहीं है। क्षेत्रपाल-पद्मावती की पूजा भी आगम-सम्मत नहीं है। अतः नम्र निवेदन यही है कि इन सब परम्पराओं को छोड़कर आगम परम्पराओं को अपना लिया जाये और यदि ऐसा करने का साहस न कर सकें तो कम से कम आगम के अनुसार चलने वालों पर आक्षेप करना तो बंद होना चाहिये। हमें तो आगम ही शरण है।

आशा है विद्वत्गण व सम्पूर्ण समाज इस लेख को पढ़कर वास्तविकता समझने का प्रयास करेंगे।

सम्पर्क सूत्र
रतनलाल बैनाड़ा
१/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
हरीपर्वत, आगरा - २८२००२

शीर्षक मीमांसा

॥ मंगलाचरण ॥

वंदन कर प्रभु आपको, अरज करूं धर पाय ।
सम्यक् मत् मति में रहे, ऐसा करो उपाय ॥
मात आर्यिका आपके, चरणन चित को लाय ।
अर्चूं पूजूं वंदऊं, होने शिवपुर राय ॥
कछु मति भ्रष्ट कुज्ञानवश, आगम विपरित जाय ।
सब्व विरत तुझको अरे !, अविरत कह हर्षाय ॥
उनका कुमत निवार मैं, सम्यक् मत् तिष्ठाय ।
श्रुत अनुसार कहूं-कहो, जय-जय अर्जिका माय ॥

आज दिनांक १३-३-२००० को प्रिय श्री रतनलालजी बैनाड़ा आगरा वालों का परिपत्रक "आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं" बंबई के भरतकुमार जी काला के माध्यम से प्राप्त हुआ ॥

तार्किक उहापोह से परिपूर्ण इस परिपत्रक के शीर्षक व भीतरी कलेवर से यह भ्रांति उत्पन्न होती है कि दिगम्बर जैन आम्नाय में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आर्यिका माताओं को आर्यिका माता न मानकर मुनि मानते हैं ॥

नहीं, सर्वथा मिथ्या है यह ॥

एक भी दिगम्बर जैन आम्नायी श्रावक वर्ग या मुनि संघ का ऐसा है ही नहीं जो यह मानता हो कि आर्यिका मातायें मुनिराज हैं ॥ सभी की यही मान्यता है कि आर्यिका मातायें, आर्यिका मातायें ही हैं व मुनिराज, मुनिराज ॥ मातायें मुनिराज नहीं है ।।

सम्पूर्ण भारत में एक भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ एक दिन के भी दीक्षित मुनिराज को आर्यिका माताओं से उच्च नहीं माना जाता ॥

मुनिराज के पद के विषय में कि वह आर्यिका माताओं के पद से श्रेष्ठ है/ज्येष्ठ है की शास्त्रोक्त उक्ति पर न तो किसी को अश्रद्धा है, न ही संदेह एवं न ही विपरीत धारणा ॥

अतः जैसे एक भ्रांति गुजरात के कानजी भाई ने अपने समय में दिगम्बर जैन आम्नाय में विकसित की थी कि "पूजा शुभ भाव है", "पूजा शुद्ध भाव है".....

इसे सुन, सभी आमोखास को लगने लगा था कि मानो सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज पूजा को अब तक शुद्ध भावों में गिनता आया था, जबकि सत्य यह था कि अनपढ़ से अनपढ़ जैन श्रावक से

क्या आर्यिका मातायें पूज्य हैं ?

(अपर नाम)।

आर्यिका मातायें संयमी हैं, पूजनीय हैं

भाग - २

✍ हेमन्त काला
रायपुर (छत्तीसगढ़)

यदि आप पूछते कि "मोक्ष कैसे होगा?" तब उसका यही उत्तर होता था कि मोक्ष तो मुनि बनकर ध्यानारूढ़ होने पर ही होगा ॥

पूजा के विषय में वह निश्चिंत था ॥ वह निश्चिंत था, इसीलिए मुनिराजों से वह अपेक्षा ही नहीं करता था कि वे नित्य नैमित्तिक पूजा करें, अन्यथा वह मोक्ष मार्ग के प्रथम पात्र मुनिराजों से ही नित्य नैमित्तिक पूजा की सर्वप्रथम अपेक्षा करता ॥ किंतु ऐसा वह नहीं करता, ऐसा करने की वह स्वप्न में भी नहीं सोचता ॥

इस विषय को, शुभ और शुद्ध की व्यवहार निश्चय नय आश्रित जटिल शास्त्रीय परिभाषाओं के तहत, वह कह भले ही न पाये, किंतु उसके भीतर का सत्य कि "मोक्ष तो मुनि बन कर ध्यानारूढ़ होने पर ही होगा" पत्थर की लकीर की तरह अमिट था ॥

वह जानता था कि पूजा अन्य किसी अपेक्षा से तो मोक्ष मार्ग में हेतु है, किंतु साक्षात् शुक्ल ध्यान के समान हेतु नहीं ॥

अतः जो भ्रांति थी ही नहीं, उसे ही भ्रांति का रूप दे, स्वयं भ्रांति में रहते हुये, अन्यों की भ्रांति का कारण बनते हुये गुजरात में कानजी भाई की तरह आगरा से यह नया मत विकास को प्राप्त हो रहा है कि :-

"आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं ॥"

अरे भाई !! किसने कह दिया कि आर्यिकायें, आर्यिका न होकर मुनिराज हैं ॥ न तो वे भूतकाल में थी, न वे वर्तमान में हैं और न वे भविष्य में होंगी ॥ वे आर्यिकायें है, और इस भव में जब तक इस पद में होंगी, आर्यिकायें ही होंगी ॥

मेरी समझ से तो परिपत्रक का शीर्षक होना चाहिए था :-

"क्या आर्यिका मातायें पूज्य हैं ?"

क्योंकि वर्तमान में दिगम्बर जैन आम्नायी एकबार पुनः दो खेमों में बंटे हैं ॥

एक वे जो आगम परम्परा से आर्यिका माताओं को पूज्य मानते हैं और दूसरे श्री बैनाड़ा जी आदि जो आर्यिका माताओं में पूज्यता से इंकार करते हुए उन्हें असंयमियों की कोटि में गिनते हैं ॥

इसी विषय पर प्रस्तुत परिपत्रक में आदरणीय बैनाड़ा जी ने अपना तार्किक पुरुषार्थ लगाया है कि आर्यिका मातायें असंयमी होने से किंचित् भी पूज्य नहीं हैं व उन्हें जो पूज्य मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥

अतः आइये इस परिपत्रक के शीर्षक "आर्यिका, आर्यिका है, मुनि नहीं" को गौण कर, बैनाड़ा जी द्वारा मीमांसित चर्चाओं द्वारा मूल विषय पर चिंतन करें कि **"आर्यिका माताओं में पूजनीय अंश हैं अथवा नहीं और इनकी पूजा करने वाले क्या मिथ्यादृष्टि हैं ?"**

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : १ (पूर्वार्द्ध)

परिपत्रक का प्रथम प्रश्न :-

शंका :- आगम में कितने लिंग हैं व उनमें से कौन सा लिंग पूज्य है ?

समाधान :- इस विषय पर अपनी ओर से कुछ भी न कहते हुए स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा दिए गये आगम प्रमाणों पर चर्चा करते हैं :-

ग्रन्थ : श्री दर्शन पाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : १८

एक्कं जिणस्स रूवं, बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि ॥

अर्थ :- दर्शन अर्थात् शास्त्रों में एक जिनेन्द्र भगवान का जैसा रूप है, वैसा अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनि का लिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिंग और तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका का लिंग ॥ ये तीनों ही लिंग जिनेन्द्र भगवान के मत में कहे गये हैं, चौथा लिंग इस मत में नहीं है ॥

पता नहीं क्यों बैनाड़ा जी ने इस गाथा का प्रयोग तो किया किंतु टिप्पणी योग्य नहीं समझा ॥ बगैर इस महत्वपूर्ण व निर्णायक गाथा पर टिप्पणी किये वे आगे बढ़ गये ॥

आइये, उनके द्वारा उपेक्षित गाथा के गूढ़ अर्थ में प्रवेश करने का प्रयास करें :-

जिनागम में 'लिंग' विशेषण से युक्त दो ही पात्र होते हैं, ऐसी सूचना आचार्य भगवंत देते हैं- १. निर्वस्त्र एवं २. सवस्त्र ॥

इनमें से वस्त्र रहित अर्थात् निर्वस्त्र लिंग के प्रति कोई विवाद नहीं है, किंतु वस्त्र सहित लिंग कहने पर पुनः प्रश्न उठता है कि क्या सभी वस्त्रधारी ? तो आचार्य कुंदकुंद देव उत्तर देते हैं कि नहीं, सभी वस्त्रधारी नहीं, अपितु मात्र वे जो उत्कृष्ट श्रावक-श्राविका (क्षुल्लक, ऐलक एवं क्षुल्लिका) के व्रतों से संस्कारित हैं एवं वे जिन पर उपचार से महाव्रत आरोपित किये गये हैं, ऐसी आर्यिका मातायें, इनसे अन्य कोई नहीं ॥

क्योंकि एक निर्ग्रन्थ लिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिंग व तीसरा आर्यिका माता का लिंग, इन तीन के सिवाय चौथे लिंग का जिनमत में अभाव है ॥

अर्थात् पंचम गुणस्थान में दसवीं प्रतिमा तक के मात्र जिनेन्द्र भगवान के मत में जिन-लिंग विशेषण से रहित हैं ॥ उनके लिये जिनलिंग संज्ञा ही नहीं है ॥ अथवा यों कहें कि आचार्य भगवंत ग्यारहवीं प्रतिमाधारियों को श्रावक कह जरूर रहे हैं, किन्तु उन्हें श्रावकों में नहीं, अपितु श्रावकों से कथंचित् भिन्न/कथंचित् अलग गिन रहे हैं ॥ श्रावक संज्ञा के पश्चात् भी ये श्रावक नहीं, जिनलिंगी ही हैं ॥

ऐसा क्यों ? आखिर कारण क्या है इसका ?

रहस्य क्या है इसमें ?

आइये रहस्योद्घाटन के लिए श्री समयसारजी की शरण लें :-

ग्रन्थ : **श्री समयसार जी** ग्रन्थकार : आचार्य कुंदकुंद देव **गाथा : ४३८**

टीकाकार : **आचार्य जयसेन जी** हिन्दी अनुवाद व व्याख्या : **आचार्य ज्ञानसागरजी**

(दीक्षा - शिक्षा गुरु आचार्य विद्यासागरजी)

उत्थानिका :- अथ निर्विकार शुद्धात्म-संवित्तिलक्षण-भावलिंग सहितं निर्ग्रंथयति-लिंग कौपीनधरणादि-बहुभेदसहितं गृहिलिंग चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते ॥

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणेद मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥

अर्थ :- आचार्य ज्ञानसागरजी इस उत्थानिका व गाथा का हिन्दी अर्थ करते हुए, (जिसे आचार्य विद्यासागरजी भी मान्य करते हैं) कहते हैं कि :-

''विकार रहित शुद्धात्मा का संवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे भावलिंग से युक्त जो निर्ग्रन्थ यति और कोपीन आदि से युक्त जो बहुत प्रकार का गृहस्थ लिंग होता है, उन दोनों को व्यवहार नय मोक्षमार्ग मानता है''

अब इस गाथा का अर्थ करते हैं :-

''व्यवहार नय मोक्षमार्ग में, निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग और उत्तम श्रावक (आदि) का लिंग, इन दोनों लिंगों को उपयोगी मानता है, क्योंकि वह निर्विकार स्व-संवेदन लक्षण वाले भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारण है ॥''

तात्पर्य :- ये दो लिंग ही अंतरंग भावलिंग के बाह्य सहकारी कारण हैं, इनके अलावा अन्य अर्थात् १० वीं प्रतिमा तक कोई नहीं है ॥

इसी कारण श्री दर्शन पाहुड़ जी में आचार्य भगवंत ने कहा कि ये तीन ही लिंग जिनेन्द्र भगवान के मत में कहे गये हैं, चौथा लिंग इस मत में नहीं है ॥

तात्पर्य अंतरंग भावलिंग इन तीन लिंग धारियों के ही वर्तता है, इन तीन के अलावा अन्य किसी के नहीं ॥

निश्चित ही पाठकों को यह स्पष्ट हो ही गया होगा कि आचार्य भगवंत इन्हें श्रावक संबोधन देते हुए भी श्रावकों में क्यों नहीं गिन रहे हैं/इन्हें श्रावकों से भिन्न क्यों कर रहे हैं ?

ये श्रावकों के गुणस्थान में जरूर हैं, किंतु सर्वथा श्रावक नहीं हैं,

ये तो जिन लिंगधारी हैं/जिनलिंगी हैं ॥

शंका :- यदि ऐसा है तो इनकी 'श्रावक' संज्ञा क्यों हैं ?

समाधान :- आम्रवन न्याय की अपेक्षा ॥

जैसे जिस वन में आम के वृक्षों की संख्या अधिक होती है उसे आम्रवन कहा जाता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि उस वन में नीम आदि के वृक्ष हैं ही नहीं ॥ यहाँ तक कि यह पूछे जाने पर कि अमुक नीम का वृक्ष कहाँ मिलेगा, तब कहा जाता है कि अमुक आम्रवन में ॥

ठीक उसी प्रकार पंचमगुणस्थान में श्रावकों का बाहुल्य होने से संपूर्ण पंचमगुणस्थान की ही 'सागार' संज्ञा है ॥ चूंकि संपूर्ण पंचमगुणस्थान की ही सागार संज्ञा है ॥

देखिये :-

ग्रन्थ : श्री धवला जी ग्रन्थकार : मुनिवर्य वीरसेनाचार्य जी पुस्तक ४, सूत्र २, पृष्ठ १३१

जदि एवं तो एदिस्से मग्गणाए संजमाणुवादववदेसो ण जुज्जदे ।
ण, अंब णिंबवण व पाधण्णपदमासेज्ज संजमाणुवादववदेसजुत्तीए ॥

शंका :- यदि ऐसा है, अर्थात् संयम मार्गणा में संयम, संयमासंयम और असंयम तीनों का ग्रहण होता है तो इस मार्गणा को संयमानुवाद का अर्थात् संयम मार्गणा यह नाम देना युक्त नहीं है?

समाधान :- नहीं, क्योंकि "आम्रवन" या "निम्बवन" इन नामों के समान प्राधान्य पद का आश्रय लेकर "संयमानुवाद" से यह व्यपदेश कहना युक्ति युक्त हो जाता है ॥

इसी प्रकार जिनलिंगी क्षुल्लकादि महाराजों की पंचम गुणस्थान में, यह गुणस्थान श्रावक प्राधान्य होने के कारण श्रावक संज्ञा है, वस्तुतः ये हैं जिनलिंगी/जिनलिंगधारी ही, अंतरंग भावलिंग के बहिरंग सहकारी कारण से युक्त ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि निश्चय नय अंतरंग भावलिंग को मोक्षमार्ग मानता है और व्यवहार नय मुनिलिंग, आर्यिकालिंग, ऐलक, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका के लिंग को मोक्षमार्ग कहता है क्योंकि अंतरंग भावलिंग के ये ही लिंग बहिरंग सहकारी कारण है, जहाँ-जहाँ व्यवहार नय आश्रित बहिरंग मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका के लिंग है, वहीं-वहीं निश्चय नय आश्रित अंतरंग भावलिंग की संभावना है, अन्यत्र कहीं नहीं ॥

शंका :- यदि ऐसा है (दोनों गृही लिंगी व मुनिलिंगी के भावलिंग वर्तता है) तो फिर मुनिराजों पर महाव्रतों के संस्कार, आर्यिका माताओं पर उपचार महाव्रतों के संस्कार व ऐलक, क्षुल्लक व क्षुल्लिकाजी पर ग्यारह प्रतिमाओं के संस्कार, यह भिन्नता क्यों ? सब पर समान संस्कार क्यों नहीं?

समाधान :- विशुद्धि में अन्तर होने के कारण ॥

वैसे यह समाधान पर्याप्त है, फिर भी इस विषय पर आगे बैनाड़ा जी के द्वारा उठायी गयी शंकाओं व उनके ही द्वारा सुझाये समाधानों पर चर्चा के अंतर्गत करेंगे ॥ यहाँ प्रकरण जिनागम में मान्य लिंगों की सिद्धि का था, अतः जिन-जिन बहिरंग लिंग धारियों के अंतरंग भावलिंग वर्तता है, उनकी संख्या मात्र पर विचार किया गया है कि जिनलिंगी तीन ही हैं, तीन के सिवा चौथे कोई नहीं ॥

॥ इत्यलम् ॥ ❑

चर्चा : १ (उत्तरार्द्ध)

प्रथम प्रश्न का द्वितीय भाग :-

"कौनसा लिंग पूज्य है ?"

वैसे इस प्रश्न का बहुभाग ऊपर कहा जा चुका है कि निश्चय नय से अंतरंग भावलिंग पूज्य है व उसी अंतरंग भावलिंग का सहकारी कारण होने से बहिरंग द्रव्य लिंग व्यवहार नय से पूज्य है, किंतु फिर भी आइये, बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों पर चर्चा करें :-

निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत कर श्री बैनाड़ा जी कहना चाह रहे हैं कि (मुनिराजों के अलावा) आर्यिका माता आदि में पूजनीय अंशों का नितांत अभाव है :-

आईये देखें, उनके द्वारा प्रमाण रूप से प्रस्तुत गाथाओं में आचार्य कुंदकुंद देव इस विषय में क्या कहते हैं :-

ग्रन्थ : श्री सूत्र पाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथायें ११,१२,१३

(प्रकरण : विनय)

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरीग्गहेसु विरओ वि।
सो होई वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥
जो बावीसपरिसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिआ इच्छणिज्जाय ॥

अर्थ :- जो मुनि संयम से सहित हैं तथा आरंभ और परिग्रह से विरत हैं, वही सुर, असुर और मनुष्यों से युक्त लोक में वंदनीय हैं ॥

जो बाईस परीषह सहन करते हैं, सैंकड़ों शक्तियों से सहित हैं तथा कर्मों के क्षय एवं निर्जरा में कुशल हैं, ऐसे मुनि वंदना करने योग्य हैं ॥

अवशेष लिंगी अर्थात् मुनिमुद्रा से अन्य (आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका माता) जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से संयुक्त हैं तथा वस्त्र के धारक हैं, इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं ॥

इन गाथाओं पर टिप्पणी करते हुए श्री बैनाड़ा जी लिखते हैं कि मुनिलिंग के अलावा अन्य लिंग वंदनीय नहीं है यह सिद्ध हो जाता है ॥ अतः जब वस्त्रधारी वंदनीय (नमोस्तु के योग्य) ही नहीं है, तब उसकी पूजा कैसे की जा सकती है ?

मुझे लगता है कि आदरणीय बैनाड़ा जी का प्राकृत व संस्कृत भाषा सम्बन्धी ज्ञान कमजोर है ॥

उपर्युक्त टिप्पणी को लिखते हुए यदि वे किसी भाषा शास्त्री से गाथा में प्रयुक्त इच्छाकार शब्द का अर्थ स्पष्ट करवा लेते तो शायद उपयुक्त होता ॥

यही नहीं, इन गाथाओं का उद्गम किस हेतु से हुआ है अर्थात् किस प्रकरण के तहत ये गाथायें उद्धृत हुई हैं इसका भी किसी आगमविद् से स्पष्टीकरण करवा लेते तो मार्ग प्रशस्त रहता ॥

लेकिन नहीं, उन्हें तो निर्णयों की हड़बड़ी थी ॥

खैर !!

वे निष्कर्ष दे रहे हैं कि आर्यिका माता आदि (गृहीलिंगी) वंदनीय (नमोस्तु-नमस्कार के योग्य) नहीं है ॥

अब मैं असमंजस में हूँ ॥

आचार्य कुंदकुंद देव कह रहे हैं कि आर्यिका आदि गृहीलिंगी इच्छाकार के योग्य हैं और आदरणीय श्री बैनाड़ा जी कह रहे हैं कि नमस्करणीय भी नहीं है ॥

अब मैं करूँ, तो क्या करूँ ?

क्या श्री बैनाड़ा जी का यह कहना कि आर्यिका माता आदि नमस्करणीय भी नहीं है, कुंदकुंदाचार्यजी द्वारा प्रयोग किये गये शब्द ''इच्छाकार'' का ही शाब्दिक या पारिभाषिक अर्थ है?

क्या इच्छाकार शब्द का यह अर्थ है ?

और यदि नहीं है तो फिर इन्होंने इस अर्थ रूप निष्कर्ष कैसे दे दिया ?

इच्छाकार शब्द का अर्थ व प्रकरण इन बिंदुओं को स्पष्ट किये बिना ''नमोस्तु-नमस्कार के अयोग्य'' यह विशेषण देना क्या श्रुत अवर्णवाद का विषय नहीं बनेगा ?

निश्चित ही बनेगा ॥

प्रिय बैनाड़ा जी, प्रकरण यहाँ विनय का है ॥

''पूर्व में जो तीन मोक्ष पुरुषार्थी जिनलिंगधारी पात्र कहे, उनके प्रति विनय कैसे प्रगट की जाए?'' यह प्रश्न उठने पर आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

नमन मुद्रा के साथ मुनिराज से वंदना व शेष लिंगधारियों से इच्छाकार अर्थात् अहो ! जिस अंतरंग भावलिंग को साधने वाले बाह्य आर्यिकादि लिंग को आपने धारण अर्थात् इच्छित किया है उसी की मैं भी इच्छा करता हूँ, यह कहे ॥

क्योंकि इच्छाकार शब्द का अर्थ है (श्री मूलाचारजी, श्लोक १२५ की टीका) :-

''इच्छामभ्युपगमं करोतीति इच्छाकार आदरः''

अर्थ :- इच्छा अर्थात् इष्ट को करना इच्छाकार अर्थात् आदर करना है ॥

यही नहीं अपितु सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री, वैयाकरणीय एवं जैन विद्वान, जिनके भाषाज्ञान

(व्याकरणादि विषयों में पारंगतता) के संबंध में संसार में किसी एक भाषाविद को भी संदेह नहीं है व जिनके प्रति आप भी निःशंकित हैं (इसी परिपत्रक चर्चा ८ से) ऐसे "पं. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर" श्री सूत्रपाहुड़ जी पर श्री श्रुतसागरी टीका का भावानुवाद (संशोधन सहित हिन्दी अनुवाद) करते हुवे व्याकरण व प्रकरण के नियमों के अनुसार इच्छाकार शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि :-

"इच्छा शब्द से नमः अर्थ कहा जाता है ॥ कार शब्द का प्रयोग इच्छा के आगे किया जाता है, इसलिए (इस प्रकार बने) इच्छाकार शब्द का अर्थ है नमस्कार।"

श्री मूलाचार जी, गाथा ६११ में प्रयुक्त इच्छाकार शब्द का यही अर्थ श्री टीकाकार जी ने भी किया है :-

"इच्छाकारं वंदना प्रणामं करोति"

अर्थ :- "इच्छाकार अर्थात् नमस्कार, वंदना करता है ॥"

शायद पाठकों को इच्छाकार शब्द का महान अर्थ स्पष्ट हो गया होगा ॥

यह पद कहता है कि यदि मुनिराजों की तरह उत्तम भावलिंग में स्थित होने में यदि ऐ ! भव्यप्राणी !! तू स्वयं को असमर्थ महसूस करता है तो कोई हर्ज नहीं, तू इस जघन्य मोक्षमार्ग रूपी भावलिंग को साधने वाले ऐलक व क्षुल्लक पद की जो भावना से संयुक्त हो ॥ और यदि ऐ भव्यप्राणी ! तू महिला है तो तू वैसे ही छठे सातवें गुणस्थान की विशुद्धि के अयोग्य है, अतः तू इस जघन्य भावलिंग की उत्तम विशुद्धि को साधने वाली आर्यिका माता अथवा जघन्य विशुद्धि को साधने वाली क्षुल्लिका माता के पद की बारम्बार इन्हें नमस्कार करते हुए इच्छा कर/याचना कर / भावना कर /प्रार्थना कर ॥

यही इच्छाकार शब्द का व्याकरणानुसार, प्रकरणानुसार व आगमानुसार अर्थ है ॥

आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं कि (श्री सूत्रपाहुड़जी, गाथा १४):-

इच्छायार महत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोय सुहंकरो होई ॥

अर्थ :- जो पुरुष सम्यक्त्व सहित जिनसूत्र में तिष्ठता हुआ इच्छाकार शब्द के महान अर्थ को जानता है और प्रतिमारूप श्रावक के एकादश भेदों में स्थित होता हुआ अर्थात् ऐलक क्षुल्लक होता है, वह परलोक में सुख को करने वाला होता है अर्थात् साक्षात् फल स्वर्ग सुख व परंपरा फल मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला होता है ॥

इसलिए जिन्होंने यह पद धारण नहीं किया उनके लिए यह पद इच्छा सहित नमस्कार के योग्य है ॥

यहाँ इच्छा आदि दीपक हैं, यहाँ से आरंभ कर मुनिराज, अरिहंत आदि समस्त पद इच्छा योग्य हैं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि मुनिराजों की तरह आर्यिका माता आदि का बहिर्लिंग अंतरंग भावलिंग का साधक है, अतः आर्यिका माता आदि भी न केवल नमस्करणीय हैं, अपितु आदरणीय माननीय व पूजनीय भी हैं ॥

अरे भाई ! अंतरंग भावलिंग व उसी भावलिंग का बहिरंग कारण क्या संसार में किसी काल में भी अपूज्य हो सकता है ? कदापि नहीं ॥

हाँ !! मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा इसके उत्तर सर्वथा भिन्न होंगे ॥

अब आप ही देखिये,

स्वयं बैनाड़ा जी आर्यिका माताओं को अपूजनीय सिद्ध करने वाले अपने परिपत्रक में चाहे जो लिख आये हों, किंतु प्रतीत होता है कि उनका चित्त शायद पूरी तरह उनकी इस तार्किक उहापोह के पक्ष में नहीं था ॥

वह इसलिए कि १८ पृष्ठीय एक चार साईज के अपने परिपत्रक में जब उन्हें लगा कि जो वे सिद्ध करना चाहते थे, उसे वे सिद्ध कर चुके व परिपत्रक पूर्ण हुआ, ठीक उसके बाद ''सारांश और निवेदन'' शीर्षक से वे एक पृष्ठ और उस परिपत्रक के साथ जोड़ते हैं, जिस पर एक वाक्य व कुछ शब्दों की निर्मिति होती है जो यह सिद्ध करती है कि उनकी अब तक की उहापोह मात्र तार्किक थी, जब कि वे स्वयं आर्यिका माताओं में पूजनीयता को न सिर्फ स्वीकारते हैं, अपितु उन्हें पूजते भी हैं '', आईये, उस वाक्य का अवलोकर करें :-

''मैं स्वयं बहुत सी आर्यिका माताओं के संघों में जाता हूँ और भक्तिभावपूर्वक उनका दर्शन-विनय करता हूँ ॥...पूज्य आर्यिकायें ॥''

यह उनका अंतिम मंतव्य है, जबकि परिपत्रक के दूसरे पृष्ठ पर चर्चा क्रमांक २ में ''आर्यिकाओं को आगम में संयमी कहा या नहीं ? वे निष्कर्ष दे रहे हैं कि आर्यिकाओं के दोनों प्रकार के संयम का अभाव होने से वे असंयम की कोटि में ही है ॥

अब जब वे असंयमियों की कोटि में ही हैं तो असंयमी ही ठहरीं और क्या असंयमी की भक्तिभावपूर्वक दर्शन-विनय हो सकती है, जो कि वे कर रहे हैं ?

क्योंकि वे स्वयं इसी चर्चा में प्रमाण स्वरूप कुंदकुंदाचार्य देव की दर्शन पाहुड़ गत गाथा २८ प्रस्तुत कर रहे हैं कि :-

''अस्संजदं ण वंदे''

असंयमी की वंदना नहीं करना ॥

अब मैं सोच रहा हूँ कि यह कैसा विरोधाभास है कि एक तरफ तो वे सिद्ध कर रहे हैं कि आर्यिका मातायें संयमहीन अर्थात् असंयमी ही हैं, अतः भक्तिभावपूर्वक दर्शन-विनय जो कि वंदना का पर्यायवाची है, की पात्र ही नहीं और दूसरी तरफ उसी परिपत्रक के ''सारांश और

निवेदन'' शीर्षक के अंतरंग उन्हीं आर्यिका माताओं के प्रति भक्तिभावपूर्वक दर्शन-विनय अर्थात् वंदना के भाव से भरे हुये हैं ॥

यही नहीं, आर्यिका माताओं के प्रति विशेषण दे रहे हैं, ''पूज्य'' ॥

अरे भैया !! यदि वे असंयमी ही हैं तो उनके प्रति भक्तिभावपूर्वक दर्शन-विनय रूप वंदना कैसी ?

और यदि भक्तिभावपूर्वक दर्शन-विनय रूपी वंदना है तो वे असंयमी कैसे ?

अरे भाई !! जिनके प्रति भक्तिभाव प्रगट किये जा रहे हैं उसी को आपके आगम में नमस्कार के अयोग्य और अपूजनीय भी कहा है क्या ?

नहीं कहा है ॥

शायद यहाँ वे यह कह सकते हैं कि हम भक्तिभाव शब्द का प्रयोग उपचार से कर रहे हैं जैसा कि प्रथमानुयोग के शास्त्रों में कहीं-कहीं असंयमी जनों के प्रति भी पूजा शब्द का प्रयोग किया गया है ॥

अरे भाई बैनाड़ा जी, कृपा कर यह बताइये कि क्या आचार्यों ने उन असंयमी जनों के प्रति पूजा शब्द का प्रयोग उनके असंयतत्व का अतिशय/आदर प्रकट करने के लिये किया है ?

अथवा

उनमें उत्पन्न गुण विशेष का अतिशय/आदर प्रकट करने के लिए किया है ?

क्या ''असंयमी की पूजा'' कहने से उस असंयमी के असंयम, प्रमाद आदि भी पूजा को प्राप्त हो जाते हैं अथवा इसमें भी नय विभाग है ?

जैसे :-

ग्रन्थ : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जी ग्रन्थकार : आचार्य समंतभद्र देव श्लोक : ६४

(प्रकरण : असंयमी की पूजा)

मातंगोधनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः ॥

नीली-जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥

अर्थ :- यमपाल नाम का चांडाल, धनदेव, उसके पश्चात् वारिषेण, नीली और जयकुमार (क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में) उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुये ॥

अब,

प्रिय बैनाड़ा जी, कृपा कर बताइये कि ऊपर जो, आचार्य समन्तभद्र देव जी द्वारा उल्लिखित मातंग, अर्थात् चांडाल, देवों के द्वारा पूजा रूपी उत्तम अतिशय को प्राप्त हुआ यह कहा गया है, तो क्या देवों ने उस चाण्डाल के चाण्डालत्व, असंयतत्व, प्रमाद आदि अवगुणों की अतिशय से परिपूर्ण उत्तम पूजा की ?

अथवा उस मातंग के अहिंसाणुव्रत की ही यह अतिशय से परिपूर्ण उत्तम पूजा थी ?

निश्चित ही अवगुण तो कदापि पूजातिशय को प्राप्त हो नहीं सकते, अतः पूजा तो अहिंसाणुव्रत रूपी गुण की ही हुई ॥

और उस गुण विशेष की पूजा से, उस गुण के साथ रह रहे अवगुण किंचित भी पूजातिशय को प्राप्त नहीं होते ॥

आईये, देखें कि श्री धवलाकार जी इस विषय में क्या कहते हैं :

ग्रन्थ : श्री धवलाजी ग्रंथकार : आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक १, पृष्ठ ३७

(प्रकरण : मंगल)

"तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मंगलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैषदोषः इष्टत्वात् ॥ न मिथ्याविरतिप्रमादानां मंगलत्वं....।"

अर्थ :-

शंका :- इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी जीव मंगलपने को प्राप्त हो जायेगा ?

समाधान :- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अह हमें इष्ट है ॥ परंतु ऐसा मानने पर भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद को मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है ॥

तात्पर्य :- मातंग अर्थात् चाण्डाल, देवों के द्वारा अतिशय से परिपूर्ण उत्तम पूजा को प्राप्त हुआ कहने से, उस चाण्डाल का चाण्डालत्व, असंयतत्व आदि नहीं, अपितु उस चाण्डाल में उत्पन्न हुए अहिंसाणुव्रत के प्रति दृढ़ता विशेष ही इस पूजातिशय को प्राप्त हुई ॥

ठीक ऐसे ही,

यदि आपके हृदय में भक्तिभावमय दर्शन-विनय रूपी वंदना (इच्छाकार) उमड़ी है तो निश्चित ही अन्यत्र नहीं पाये जाने वाले ऐसे आर्यिका माताओं में उत्पन्न हुये गुणों के प्रति ही उमड़ी होगी, अवगुणों के प्रति तो किंचित भी नहीं ॥?॥

और यदि गुणों के प्रति ही यह भक्तिभाव उमड़ा है तो फिर उन गुणों की चर्चा क्यों नहीं करते ?

क्यों नहीं कहते कि आर्यिका माताओं के गुणों में भी श्रावकों में भक्तिभाव से परिपूर्ण दर्शन-विनय रूपी वंदना (इच्छाकार) को उत्पन्न करने की स्वाभाविक शक्ति है ?

वे अपूजनीय/अवंदनीय नहीं,

अपितु उनके उत्पन्न हुये गुणों की स्तुति/भक्ति साक्षात पुण्य बंध के व परंपरा से मुक्ति के कारण है ॥

पुनश्च :-

उनके इन्हीं गुणों की स्तुति/भक्ति/पूजातिशय आदि करने से उनके वस्त्रादि सम्बन्धी शेष रहे असंयमी परिणाम, जो कि पुनः संयमाचार पूर्वक ही हैं/यद्वा तद्वा अनर्गल प्रवृत्ति रूप नहीं, पूजातिशय को प्राप्त नहीं होते ॥

चूंकि वे पूजातिशय को प्राप्त ही नहीं होते अतः गुणानुवाद में दोष का कोई कारण भी नहीं है ॥

यहाँ इनके पूजातिशय की तुलना शेष असंयमी, ईश संयमी आदि पात्रों के साथ भी नहीं की जा सकती क्योंकि अंतरंग भावलिंग सहित बहिरंग द्रव्यलिंग के स्वामी तीन ही कहे हैं, चौथा नहीं, अतः इन तीन के अलावा शेष सभी पात्र कारण विशेषः से ही पूजातिशय को प्राप्त होते हैं, सर्वथा नहीं ॥

इस विषय पर बैनाड़ा जी द्वारा उठाये, इसी परिपत्रक में, चर्चा ४ प्रकरण नव देवता व चर्चा ८ प्रकरण पूजा शब्द के अर्थ के अंतर्गत अपनी बात विशेष रूप से रखने का प्रयास करेंगे,

किंतु यहाँ उपसंहार रूप मात्र इतना ही कहने का आशय है कि :-

वे ही गुण जिन्हें प्रिय बैनाड़ा जी अपने हृदय में महसूस करते हुये भी कह व समझ नहीं पा रहे हैं :-

यद्यपि वे विशुद्धि अपेक्षा मुनिराजों से प्रतिशत मे कम हैं,

किंतु फिर भी जो भक्तिभावमय दर्शन-विनय वंत सम्यग्दृष्टि श्रावकों में उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न हैं,

उन्हीं और मात्र उन्हीं गुणों का स्वामीपना होने के कारण ही आर्यिका माता आदि न सिर्फ शाब्दिक पूजातिशय के योग्य है अपितु साक्षात् पूज्य भी हैं ॥

इन्हीं गुणों के कारण स्वयं आचार्य कुंदकुंद देव हम श्रावकों से भिन्न/श्रावकों से जुदा जिनलिंग प्रकरण के अंतर्गत सर्व सावद्य त्यागी, जगतपूजनीय मुनिराजों के क्रम में दूसरे और तीसरे पात्र रूप इन्हें जिनलिंगी, मोक्षमार्गी आदि-आदि विशेषणों से विभूषित कर रहे हैं ॥

और तो और स्वयं आचार्य ज्ञानसागरजी (शिक्षा व दीक्षा गुरु आचार्य विद्यासागरजी महाराज) श्री समयसारजी, गाथा ४३८ (जयसेनाचार्य जी) का हिंदी अनुवाद करते हुये कहते हैं कि :-

व्यवहार नय मोक्षमार्ग में दिगम्बर लिंग और उत्तम श्रावक का लिंग (आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका) इन दोनों लिंगों को उपयोगी मानता है, क्योंकि निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण वाले भावलिंग का यह सहकारी कारण है ॥''

जी हाँ, इसी अंतरंग निर्विकार स्वसंवेदन सहित (उसके साधने वाले) बहिरंग द्रव्य लिंग की स्वामिनी होने से ही आर्यिका मातायें भी जगत्पूज्यता को प्राप्त होती हैं ॥

अरे भाई, अंतरंग निर्विकार स्वसंवेदन भावलिंग व उसे उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त बहिरंग मुनि व आर्यिका आदि का लिंग क्या स्वप्न में भी अपूजनीय हो सकता है ?

निश्चित ही नहीं हो सकता ॥

हाँ !! आर्यिका माता आदि का यह लिंग सर्व कर्मक्षय रूप तद्भव मोक्ष का कारण नहीं है, परंपरा से मुक्ति का कारण है ॥

जैसा कि श्री जयसेनाचार्यजी श्री प्रवचनसार जी में गाथा २२४/८ की टीका में कहते हैं :-

"तद्भव मोक्षो नास्ति, भवान्तरे भवतु"

निष्कर्ष :- श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य जी की अपेक्षा चतुर्गति रूप संसार में सम्यक्त्व रत्न सहित दो समूह उपलब्ध है :-

१) सलिंग अर्थात् लिंग सहित ॥

२) निर्लिंग अर्थात् लिंग रहित ॥

दोनों की जाति, परिवेश व जीवन के सूत्र भिन्न-भिन्न हैं ॥

एक दूसरा नहीं है ॥

सलिंग सलिंग है, निर्लिंग निर्लिंग ॥

प्रथम वनवासी, भिक्षाभोजी अर्थात् अतिथि वः अगार रहित अर्थात् अनगार है ॥

द्वितीय ग्रामनगर वासी, उद्दिष्ट भोजी व अगार सहित है ॥

प्रथम का मुख्य कार्य ध्यान व अध्ययन है अतः वे यति, साधु है ॥

द्वितीय का मुख्य कार्य दान पूजा है, अतः वो श्रावक हैं, गृहस्थ हैं ॥

प्रथम लिंग के तीन भेद हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय जिन्हें ग्रन्थांतरों में उत्तम, मध्यम, जघन्य कहा है ॥

ये एक उत्तम पात्र के तीन भेद हैं जो कि लिंग शब्द का पर्यायवाची है ॥

लिंग रहितों में के दो भेद हैं १. श्रावक २. अविरत सम्यग्दृष्टि ॥

ये मध्यम व जघन्य पात्र हैं ॥

अर्थात् प्रथम प्रतिमा से दसम प्रतिमा तक मध्यम पात्र व अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र ॥ इनमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारियों को नहीं लेना क्योंकि वे निर्लिंगियों के नहीं, सलिंगियों के भेद हैं ॥

इन्हीं तीन प्रकार के लिंगियों के समूह को ग्रन्थांतरों में चतुर्विध् संघ कहा गया है :-

"मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका"

यही नहीं,

पाठक गण को पढ़कर आश्चर्य होगा कि इस चतुर्विध् संघ के सर्व कर्मों के क्षय हेतु एक समुच्चय अर्घ पूजा के पश्चात्, प्रत्येक पूजक जिनेन्द्र भगवान के चरणों में अर्पित करता है :-

ऊँ ह्रीं श्रीमंतं भगवंतं कृपालसन्तं अद्यानां आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्य खण्डे..... देशे.....प्रान्ते.....नाम्नि नगरे, वीर निर्वाण संवत्.....विक्रम संवत्..... मासोत्तमासे.....पक्षे.....तिथौ.....वासरे.....पौर्वाह्निक /मध्याह्निक/अपराह्निक समये मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाणां सकल कर्म क्षयार्थं भाव पूजा वंदना स्तव समेतं जलादि महार्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा ॥

यही नहीं, अपितु मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी श्री प्रवचनसार जी में साकार अनाकार की क्या परिभाषा करते हैं, आईये देखें :-

ग्रन्थ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : श्रीमद् जयसेनाचार्य जी गाथा : १९८

''अथवा अहाकारेण लिंगेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकार चिह्नरहितो गृहस्था ॥''

भावार्थ :- अथवा जो लिंग सहित है वे साकार, यति, साधु हैं और जो लिंग रहित हैं वे गृहस्थ, श्रावक अनाकार हैं ॥

और अब यहाँ यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि जिनागम में लिंग सहित कौन-कौन हैं व लिंग रहित कौन-कौन ?

यहाँ सिर्फ इतना ही समझना कि संसार में जितने भी पात्र लिंग सहित हैं वे यति, साधु हैं और जो इन तीनों से शेष हैं वे गृहस्थ, श्रावक हैं ॥

सलिंग की गृहस्थ संज्ञा ही नहीं होती ॥

और जो यति हैं, साधु हैं, वे पूज्य ही हैं, इसे पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : २ (पूर्वार्द्ध)

चर्चा २ : - आर्यिकाओं को आगम में संयमी कहा या नहीं ?

समाधान : - सर्वप्रथम श्री बैनाड़ा जी द्वारा लिखे गये निष्कर्षों पर ही आइये चर्चा करें ॥

वे लिखते हैं :-

आर्यिकायें वास्तव में देशसंयम, असंयम कोटि में ही हैं ॥ यदि कहीं प्रसंगवश आर्यिका को संयमी या संयम शब्द से संबोधन किया भी गया तो वह उपचार महाव्रतों को ध्यान में रखकर ॥ वस्तुतः देशसंयमी असंयम मार्गणा में आता है, जो निम्न प्रमाणों से स्पष्ट है ॥''

इससे पहले कि हम बैनाड़ा जी द्वारा उद्धृत प्रमाणों को लें, उनके द्वारा लिये उपरोक्त निष्कर्ष पर चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है ॥

वे लिखते हैं देशसंयम असंयम मार्गणा में आता है ॥

आइये देखें कि बैनाड़ा जी का यह कथन जिनेन्द्र भगवान् के कहे सिद्धातों में दोष उत्पन्न करने वाला है अथवा नहीं :-

सिद्धांत : १ - मार्गणायें

शायद बैनाड़ा जी को पता ही नहीं कि १४ मार्गणाओं में असंयम नाम की कोई मार्गणा ही नहीं है ॥

मार्गणा का नाम है संयम-मार्गणा, जो कि गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्गणाओं के १४ भेदों में ८ वें क्रम पर है ॥

इस संयम मार्गणा में तीन भावों पर चर्चा है :-

१. संयम, २. संयमासंयम, ३. असंयम ॥

इस मार्गणा में तीनों भावों की उत्पत्ति के हेतु व लक्षण भिन्न-भिन्न कहे हैं (यहाँ संयमासंयम और असंयम इन दो परिणामों के प्रमाण हम दे रहे हैं) ॥

ग्रन्थ : श्री गोम्मटसारजी (जीवकाण्ड) ग्रन्थकार : मुनिवर्य नेमिचन्द्राचार्य जी श्लोक : ४६९

तदियकसायुदयेन य विरदाविरदेण गुणो हवे जुगवं ।
विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण ॥

अर्थ :- तीसरी (प्रत्याख्यान) कषाय के उदय से एक साथ विरतअविरत रूप गुण होता है ॥

दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय में नियम से असंयम होता है ॥

यदि देश-संयम (संयमासंयम, विरताविरत) असंयम परिणाम का भेद होता, तो देश संयम की उत्पत्ति के हेतु व स्वरूप क्या स्वतंत्र अर्थात् असंयम से भिन्न बतलाये जा सकते थे ?

निश्चित ही नहीं बतलाये जा सकते थे ॥

किंतु नहीं, वे बतलाये गये हैं ॥

आइये, अब दोनों के परिणामों की भिन्नता देखें :-

ग्रन्थ : श्री गोम्मटसारजी (जीवकाण्ड) ग्रन्थकार : मुनिवर्य नेमिचन्द्राचार्य जी श्लोक : ४७६

पंचतिहिचउविहेहि य अणुगुणसिक्खावएहि संजुत्ता ।
उच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झलियकम्मा ॥

अर्थ :- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त सम्यग्दृष्टि जो कर्मों की निर्जरा करते हैं उन्हें परमागम में देशविरत कहते हैं ॥

देखिये यहाँ ना सिर्फ इसे एकदेश संयम संयुक्त कहा अपितु अपने संयम परिणामों से कर्मों की निर्जरा करने वाला भी कहा,

वहीं,

जीवा चोद्दसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेयव्वा ॥

अर्थ :- चौदह प्रकार के जीव समास और अट्ठाईस इंद्रियों के विषयों से जो विरत नहीं है, उन्हें असंयमी जानना ॥

अर्थात् यह असंयमी पहले से चतुर्थ गुणस्थान तक समान रूप से पाया जाता है ॥

निर्जरा रहित इस असंयम परिणाम का निर्जरा सम्पन्न संयमासंयम परिणाम भेद कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥

इससे सिद्ध होता है कि संयमासंयम यह भाव असंयम व सकल संयम इन दोनों भावों से भिन्न कोई तीसरा स्वतंत्र भाव है, क्योंकि वह एकांत से असंयमी भी नहीं और सकल संयमी भी नहीं है ॥

तात्पर्य :- देशसंयम 'असंयम' का भेद नहीं है।।

सिद्धांत : २ - पाँच भाव

प्रिय बैनाड़ा जी, कृपया ध्यान दें, "यदि देशसंयम को आप असंयम की कोटि में रखोगे तो देशसंयम भी असंयम की तरह औदयिक भाव हो जायेगा ॥

और आपकी जानकारी के लिये बतला दूँ कि देशसंयम (संयमासंयम) यह औदयिक नहीं अपितु क्षायोपशमिक भाव है ॥

और क्षायोपशमिक भाव क्या औदयिक भाव का भेद किसी भी काल में किसी भी अपेक्षा से हो सकता है ?

कदापि नहीं ॥

जब क्षायोपशमिक भाव किसी काल में भी औदयिक भाव का भेद नहीं हो सकता तब देशसंयम क्षायोपशमिक भाव असंयम (औदयिक भाव) का भेद कैसे हो सकता है ?

कभी नहीं हो सकता ॥

वैसे इस विषय के प्रमाण आपके स्मरण में होंगे ही, किंतु फिर भी आपके पुनःस्मरण हेतु श्री तत्वार्थ सूत्र जी एवं श्री धवलाजी से प्रस्तुत करते हैं कि संयमासंयम क्षायोपशमिक भाव है और असंयम औदयिक :-

ग्रंथ : श्री तत्वार्थ सूत्र जी ग्रंथकार : आचार्य उमा स्वामी अध्याय २, सूत्र ५

(प्रकरण : क्षायोपशिमक भाव के भेद)

''ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतु स्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च॥''

अर्थ :- ज्ञान चार, अज्ञान तीन, दर्शन तीन, दानादि लब्धियाँ पाँच, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ॥

ग्रन्थ : श्री धवला जी ग्रन्थकार : आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक १, सूत्र १३ की टीका

(प्रकरण : किस भाव के आश्रय से संयमासंयम होता है ?)

''औदयिकादिपञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यः संयमासंयम गुणः समुत्पन्न इति चेत् क्षायोपशमिकोऽयं गुणः ॥''

अर्थ :-

शंका :- औदयिक आदि पाँच भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयम भाव उत्पन्न होता है ?

समाधान :- संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है ॥

अब असंयम औदयिक भाव के प्रमाण : -

ग्रन्थ : श्री तत्वार्थ सूत्र जी ग्रन्थकार : आचार्य उमा स्वामी अध्याय २, सूत्र ६

(प्रकरण : औदयिक भाव के भेद)

गतिकषायलिंग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड् भेदाः ॥

अर्थ : - चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्यायें ॥

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि चूंकि संयमासंयम (देशसंयम) क्षायोपशमिक भाव है, अतः वह असंयम (औदयिक भाव) का भेद कभी नहीं हो सकता ॥

सिद्धांत ३ :- संख्या की अपेक्षा (अनुयोग : अल्पबहुत्व)

आईये अब अनुयोग द्वार में कहे गये अल्पबहुत्व प्रकरण के अंतर्गत इसे संख्या अपेक्षा समझने का प्रयास करें कि क्या देशसंयम असंयम का भेद है ?

ग्रन्थ : श्री गोम्मटसार जी (जीवकाण्ड) **ग्रन्थकार : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती**

गाथा : ४८०/४८१ (प्रकरण : संयम मार्गणा में तीनों भाव गत जीवों की संख्या)

पमदादिचउण्हजुदि सामयियट्ठगं कमेण सेसतियं ।
सत्तसहस्साणवसय णवलक्खा तीहिं परिहीणा ॥
पल्लासंखेज्जदिमं विरदाविरदाण दव्वपरिमाणं ।
पुव्वुत्तरासिहीणा संसारी अविरदाण पमा ॥

अर्थ :-

१) गाथा ४८० में संयमी जीवों की संख्या बतलाई गयी है ॥

२) गाथा ४८१ के पूर्वार्द्ध में संयतासंयत (विरताविरत) जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग कही है ॥

३) इसी गाथा ४८१ के उत्तरार्द्ध में असंयत जीवों की संख्या कही है कि "संसारी जीवों में से उपरोक्त संयमी व संयमासंयमी जीवों की राशि कम कर देने से असंयतों की संख्या का प्रमाण आता है ॥

अर्थात् ऊपर आचार्य भगवंत जीवों की पृथक्-पृथक् संख्या को दो गाथाओं के माध्यम से बतला रहे हैं ॥

उस संख्या में पंचम गुणस्थानवर्ती संयमासंयमी जीवों की संख्या पृथक् गिनवाई है व प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती समस्त असंयमी जीवों की संख्या पृथक् ॥

यदि देश संयम असंयम की कोटि में आता तो जैसे प्रथम से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों की संयुक्त संख्या कही है, वैसे ही क्या पंचम गुणस्थानवर्ती संयमासंयमी जीवों को भी इन्हीं के साथ नहीं गिनवाया जाता ?

निश्चित ही गिनवाया जाता ॥

किंतु नहीं गिनवाया गया ॥

इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयमी पात्रों से संयमासंयमी जीव भिन्न हैं, उनमें सम्मिलित नहीं ॥

सिद्धांत ४ :- चरणानुयोग

आइये, अब देखें कि जिन्हें बैनाड़ाजी असंज्ञी कोटि में रख रहे हैं, उन्हीं देशसंयमी (संयमासंयमी) जीवों को आचार्य कुंदकुंद देव किस कोटि में रख रहे हैं :-

ग्रन्थ :- श्री चारित्र प्राभृतजी ग्रन्थकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २०

(प्रकरण : संयमाचरण के भेद)

दुविहं संजमचरणं सायारं तह इवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिगह रहिये णिरायारं ।।

अर्थ :- संयमाचरण के दो भेद हैं सागार और निरागार ।। परिग्रह सहित के सागार संयमाचरण होता है ।। और परिग्रह रहित के द्वितीय निरागार संयमाचरण होता है ।।

आश्चर्य होता है कि जब कुंदकुंदाचार्य जी इस गाथा में अणुव्रती श्रावकों को संयमाचरण के भेद रूप गिनवा रहे हैं, फिर आदरणीय बैनाड़ा जी उन्हीं देशसंयमियों को असंयम मार्गणा (!) में कैसे रख रहे हैं ?

कहीं ऐसा तो नहीं वे इस गाथा को भी आचार्य कुंदकुंद देव की जगह किन्हीं भट्टारक जी (यद्यपि भट्टारकजी के वचन स्वयं इन्होंने प्रमाण रूप परिशिष्ट में लिये हैं) द्वारा प्रक्षिप्त गाथाओं में सम्मिलित कर रहे हैं ?

ऐसा करते हैं कि इस शंका के निवारणार्थ आचार्य समंतभद्र स्वामी की शरण में चलते हैं :-

ग्रन्थ : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारजी ग्रन्थकार : आचार्य समंतभद्र स्वामी

श्लोक ४ : चारित्राधिकार (प्रकरण : चारित्र के भेद)

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्ग विरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ।।

अर्थ :- वह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है ।। उनमें से सकल चारित्र समस्त परिग्रह से रहित अनगारों के और विकल (एक देश) चारित्र परिग्रह-युक्त सागारों के होता है ।।

यह लो,

यहाँ तो आचार्य समन्तभद्रस्वामी भी इसे चारित्र के भेदरूप ही गिनवा रहे हैं, अचारित्र (असंयम) के भेद रूप नहीं ।।

अब मैं क्या करूँ ?

अच्छा हम पाठकों से ही पूछते हैं कि यदि मेरी जगह वे होते तो क्या करते ?

१. क्या आचार्य कुंदकुंद देव व आचार्य समन्तभद्र स्वामी की शरण स्वीकारते ?

या

२. आदरणीय बैनाड़ा जी को प्रमाण मानते ?

प्रिय पाठको !! आप जब तक निर्णय करें, तब तक हम चर्चा को आगे बढ़ाते हैं व चलते-

चलते श्री धवलाकार जी के सम्मुख भी अपनी समस्या रख उसके निवारणार्थ सहयोग की अपेक्षा करते हैं :-

सिद्धांत ५ : न्याय व गुणस्थान विवक्षा

ग्रन्थ : श्री धवला जी ग्रन्थकार : आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक १/सूत्र १२ की टीका

(प्रकरण : चतुर्थ गुणस्थान में असंयत् शब्द की व्याख्या)

सूत्र : असंजदसम्माइट्ठी ॥

''असंजदं इदिं जं सम्मादिट्ठिस्स विसेसण वयणं तमंतदीवयत्ताउदो हेट्ठिल्लाणं सयल गुणट्ठाणाणमसंजजत्तं परूवेदि ॥''

अर्थ :- सामान्य से असंयत् सम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥

(यहाँ सूत्र में प्रयोग असंयत विशेषण का प्रयोग क्या अर्थ रखता है, इसे स्पष्ट करते हुये आचार्य भगवंत कहते हैं):-

''सूत्र में सम्यक्दृष्टि के लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है वह अन्त्य दीपक है,इसलिए वह अपने से नीचे के भी समस्त गुणस्थानों के असंयतपने का निरूपण करता है ॥''

तात्पर्य :- यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि संबोधन में अविरत यह विशेषण अंत्यदीपक है ॥

अंत्यदीपक यह न्याय का विषय है ॥

अंत्यदीपक का अर्थ होता है कि अंतिम यहीं तक मिलता है, इससे आगे नहीं ॥

अर्थात् यह असंयम औदायिक भाव का स्वामित्व पहले से चतुर्थ गुणस्थानवर्तियों में ही पाया जाता है, इससे आगे पंचम आदि गुणस्थानवर्तियों के लिए यह विशेषण नहीं है ॥

इससे आगे के गुणस्थानों में क्षायोपशमिक संयमासंयम आदि परिणाम वर्तते हैं ॥

इस प्रकार धवलाकार जी के अनुसार भी यही प्रकट हुआ कि संयमासंयम यह स्वतंत्र परिणाम है, असंयम का भेद नहीं ॥

इसे चारित्र प्राभृत के अंतर्गत संयमाचरण के भेद रूप तो गिन सकते हैं, क्योंकि संयम भी क्षायोपशमिक परिणाम व संयमासंयम भी, किंतु असंयम (औदायिक भाव) की कोटि में तो कदापि नहीं रख सकते ॥

और अब अंत में,

यहाँ बैनाड़ा जी द्वारा उठाया गया प्रश्न आज का नहीं है, यही प्रश्न आज से १६०० वर्ष पूर्व पूज्यपाद स्वामीजी के सम्मुख भी उठा था, फिर न्यायाचार्य अकलंक देव के सम्मुख उठा, फिर न्यायाचार्य विद्यानंद स्वामी जी के सम्मुख उठा ॥

सिर्फ इन्हीं के नहीं, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य जी आदि समर्थ आचार्यों के समक्ष भी उठा था ॥

इन सभी आचार्यों के समक्ष उठी इस शंका का समाधान भी, इन सभी आचार्यों ने एक मत से एक सा ही दिया, जिसे कि हम नीचे श्री राजवार्तिक जी से ग्रहण कर उद्धृत कर रहे हैं :-

ग्रन्थ : श्री राजवार्तिक जी ग्रन्थकार : भट्टाकलंक देव अध्याय ७ सूत्र १९ वार्तिक ४

राजवद्वा ॥४॥

यथा द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राधिपतिः सार्वभौमो राजेति एकजनपदपतिः तदर्धेश्वरो वा न राजा न भवति? भवत्येव, तथा अष्टादशशीलसहस्रचतुरशीतिगुणशतसहस्रधरत्वादनगारः संपूर्णव्रत इति संयतासंयतोऽणुव्रत धरत्वात् न व्रतति न भवति ? भवत्येव ॥

अर्थ :- यहाँ बैनाड़ा जी की शैली में शंकाकार आचार्य भगवंत से शंका कर रहा है कि :

अणुव्रती अविरति-असंयमी होता है ?

उसकी शंका के निराकरण के लिए आचार्य भगवंत सरल उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं :-

राजा की तरह ॥४॥

जैसे बत्तीस हजार देशों के अधिपति में प्रयुक्त होने वाला "राजा" शब्द, एक देश या आधे देश के अधिपतियों में भी प्रयुक्त नहीं होता है क्या ?

होता ही है ॥

ठीक इसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख गुणों के धारक संपूर्ण व्रती अनगारों में प्रयुक्त होने वाला "व्रती" शब्द क्या संयतासंयतों में प्रयुक्त नहीं होगा ?

होगा ही ?

यहाँ, न्यायाचार्य भट्टाकलंक देव स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि वो अविरती नहीं, व्रती ही है, वो असंयमी नहीं, संयमी ही है ॥

इसी न्याय के तहत श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य जी ने भी संयमासंयम को संयमाचार का ही भेद निरूपित किया है, असंयमाचार का नहीं ॥

इनमें भी पुनः आर्यिका माता आदि तो विशेष हैं ॥

जब सामान्य देशव्रती ही असंयम कोटि का नहीं है तो फिर उपचार महाव्रती आर्यिका मातायें व ग्यारहवीं प्रतिमा के संस्कारों से मंडित उत्तम श्रावक तो क्वचित् कदाचित् भी असंयम कोटि के नहीं हो सकते ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : २ (उत्तरार्द्ध)

चर्चा २: आर्यिकाओं को आगम में संयमी कहा या नहीं ?

समाधान : आइये अब, इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर कि आर्यिका माता मात्र के नहीं अपितु संपूर्ण पंचम संयमासंयम गुणस्थान में असंयम नामक औदयिक भाव नहीं, अपितु विरताविरत नामक क्षायोशमिक भाव होता है जो कि संयम की शाखा या उपशाखा रूप है, बैनाड़ा जी द्वारा भ्रांतियाँ उत्पन्न करने वाले प्रमाणों पर भी चर्चा कर लें: -

चर्चा करने से पूर्व विषय को अर्थात् पंचम गुणस्थान की विवक्षा को एक बार फिर समझ लें कि :-

संयमासंयम यह भाव असंयम व सकल संयम इन दोनों भावों से भिन्न मिश्र (संयमासंयम) रूप स्वतंत्र भाव है ॥

इस भाव का धारक एकांत से असंयमी भी नहीं और एकांत से सकल संयमी भी नहीं है ॥

अतः विवक्षाधीन परिणामों वाला यह क्षायोपशमिक पंचम गुणस्थान है ॥

यह पूछे जाने पर कि छट्ठे/सातवें गुणस्थान योग्य परिणाम इसमें क्यों नहीं ?

तो उत्तर होगा असंयम का सद्भाव होने से ॥

और यह पूछे जाने पर कि चौथे गुणस्थान के योग्य परिणाम इसके क्यों नहीं ?

तो उत्तर होगा संयम का सद्भाव होने से ॥

जैसा कि स्वयं बैनाड़ा जी आगे चर्चा ३ में कहेंगे। कि देशसंयम गुणस्थान में दूसरा अविरत प्रत्यय विरत कर मिला हुआ है ॥

तात्पर्य यह गुणस्थान विवक्षाधीन है, सर्वथा विरत नहीं, सर्वथा अविरत नहीं, अपितु विरताविरत ॥

इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर,

आइये अब, बैनाड़ाजी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों को आगम के परिप्रेक्ष्य में समझें कि उनसे क्या वे ही अर्थ ध्वनित होते हैं जो बैनाड़ा जी चाहते हैं अथवा उन अर्थों से अन्य 'स्यात्' पद चिह्नित कुछ और ही अर्थ ध्वनित होते हैं :-

कुल पाँच प्रमाण बैनाड़ा जी ने यहाँ अ से उ क्रम में प्रस्तुत किये हैं :-

प्रमाण - अ

ग्रंथ : श्री भाव संग्रह जी ग्रंथकार : मुनिवर्य देवसेनाचार्य जी गाथा : ९५

ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं इविह संजमोद्धरणं ।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥

अर्थ :- उन स्त्रियों के दोनों प्रकार का संयम)इंद्रिय और प्राणी संयम) नहीं होता है, इसीलिए उन्हें उसी जन्म से मोक्ष नहीं कहा है ॥

विवक्षा पारंगत नहीं होने से आदरणीय बैनाड़ाजी यहाँ पुनः चूक गये ॥

''उन स्त्रियों के दोनों प्रकार का संयम (इंद्रिय व प्राणी संयम) नहीं होता'' गाथा के इस पद द्वारा क्या वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दोनों प्रकार का संयम किंचित् भी नहीं होता ?

यदि वे यह सिद्ध करना चाहते हैं तो न सिर्फ स्वयं भ्रांति में हैं, अपितु अनेकों की भ्रांति का कारण भी बनेंगे ॥

प्रिय बैनाड़ा जी, आप स्वयं उन्हें देश संयमी कह रहे हैं, फिर आप उन्हें पूर्णतः असंयमी कैसे लिख सकते हैं ?

यह तो स्व-वचन बाधा नामक दूषण हुआ ॥

यही नहीं, इस प्रकार का कथन करने पर तो आपके मत से संयम की कथंचित् सिद्धि करने वाले पंचम गुण स्थान का ही अभाव हो जायेगा ॥

क्या आपके मत में पंचम (संयमासंयम) गुणस्थान के अभाव रूप १३ ही गुणस्थान पाये जाते हैं ?

यदि नहीं, तो कृपा करके उपरोक्त गाथा का सम्यक् अर्थ कहिये कि छट्ठे आदि गुणस्थान के योग्य सकल (इंद्रिय व प्राणी) संयम का अभाव है, एक देश इंद्रिय व प्राणी संयम का नहीं ॥

पंचम गुणस्थान में आचार्यों ने युगपत् परिणाम स्वीकार किये हैं, देखिये :-

ग्रंथ : धवला जी ग्रंथकार : आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक १, सूत्र १३

सूत्रः न चात्रविरोधः संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् ॥

अर्थः - एक आत्मा में एक साथ संयम और असंयम दोनों परिणाम मान लेने से कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न हैं । संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रस हिंसा से विरति भाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से अविरति भाव है ॥

तात्पर्य :- उपरोक्त गाथा का आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार पंचम गुणस्थान की सिद्धि करने वाला अर्थ हुआ कि :-

''यद्यपि पंचम गुणस्थानवर्ती स्त्रियों के त्रस हिंसा से विरति रूप (इंद्रिय व प्राणी) संयम तो है, किंतु स्थावर हिंसा सम्बन्धी (इंद्रिय व प्राणी) असंयम होने से उसी जन्म से मोक्ष नहीं है ॥''

अर्थात् यह गाथा छट्ठे गुणस्थान संबंधी स्थावर हिंसा विरति परिणामों की विवक्षा सहित है ।। इस गाथा से उनके त्रस हिंसा विरति परिणामों का निषेध नहीं होता ।।

इनमें भी पुनः आर्यिका मातायें विशेष हैं, जिसकी चर्चा हम चर्चा क्र. ३ में बैनाड़ा जी द्वारा उठायी शंका ''आगम में स्त्रियों के दीक्षा कही है या नहीं ?'' के अंतर्गत करेंगे ।।

इस प्रकार यहाँ सिद्ध हुआ कि आदरणीय बैनाड़ा जी द्वारा कथित उपर्युक्त गाथा के अभिप्राय विवक्षा हीन होने के कारण एकान्त की ओर ले जाने वाले हैं ।।

उनके द्वारा कहे अर्थ को ग्रहण करने पर जिनेन्द्र मत से त्रस घात विरति रूप एक देश संयम की सिद्धि करने वाले पंचम गुणस्थान का ही अभाव हो जायेगा ।।

प्रमाण - ३१

ग्रंथ : श्री दर्शनपाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २६

अस्संजदं ण वंदे, वच्छविहीणोवि सो ण वंदिज्ज।
दुण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।।

अर्थ :- असंयमी को नमोस्तु नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है ।। ये दोनों ही समान हैं ।। दोनों में एक भी संयमी नहीं ।।

समझ में नहीं आता कि आदरणीय बैनाड़ा जी ने उपरोक्त गाथा किस हेतु से उद्धृत की है ।।

इस गाथा से हमारा प्राकृत विषय कि ''देश संयम असंयम मार्गणा का भेद है'' किसी भी अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता ।।

अर्थात् यह प्रमाण अप्रासंगिक है ।।

खैर !!

किंतु यहाँ पुनः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह गाथा (१ से चौथे गुणस्थानवर्तियों की अपेक्षा है) पंचम, छट्ठे आदि गुणस्थानों की अपेक्षा नहीं, क्योंकि प्रस्तुत गाथा के रचियता द्वारा ही पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि पंचम गुणस्थान संयमाचरण का ही भेद है, असंयम का नहीं ।।

और चूँकि आगम में पूजातिशय को प्राप्त कुछ मातङ्ग आदि असंयमी पात्रों का भी वर्णन मिलता है, अतः इस गाथा का व्याख्यान करते हुए इस अपवाद मार्ग का भी स्मरण रखना कि असंयमी भी कथंचित् पूजातिशय के योग्य है, सर्वथा एकान्त नहीं करना ।।

क्योंकि व्याख्यान का मूल सूत्र है :-

ग्रंथ : श्री तत्वार्थसूत्रजी ग्रंथकार : आचार्य उमास्वामी अध्याय ५/सूत्र ३२

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।।

अर्थ :- वस्तु तत्व की सिद्धि गौण और मुख्य की विवक्षा से होती है ।।

किंतु आश्चर्य है कि उपर्युक्त प्रकरण को प्रस्तुत करते हुए न जाने क्यों आदरणीय बैनाड़ा जी ने २६ वीं गाथा तक तो चर्चा की पर २७ वीं महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक गाथा बिल्कुल ही छोड़ दी !!

पाठकगण विचार करें कि क्या यह कृत्य किसी ऐसे रहस्य की ओर संकेत नहीं देता, जिसे आचार्य कुंदकुंद देव तो प्रकट करना चाहते हैं पर बैनाड़ा जी जानते हुए भी प्रगट करना नहीं चाह रहे हैं ?

आइये, हम भी पाठकों के साथ बैनाड़ा जी द्वारा उपेक्षित कुंदकुंदाचार्य जी का मंतव्य प्रगट करती गाथा २७ का स्वाध्याय करें :-

ग्रंथ : श्री दर्शनपाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २७

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदइ गुणहीणो ण हु समणो णेव सावओ होइ ॥

अर्थ :- देह को नहीं वंदते हैं, कुल को भी नहीं वंदते हैं और जातियुक्त को भी नहीं वंदते हैं, क्योंकि जो गुण रहित हो उसको कौन वंदे ? गुण के अभाव में वह (वंदना योग्य) न तो श्रमण है और न ही श्रावक ॥

तात्पर्य :-

उपरोक्त गाथा में भी आचार्य भगवंत संसार में मात्र दो को गुण सहित कह रहे हैं १) मुनि २) श्रावक ,

और साथ में यह भी कह रहे हैं कि गुण रहित की वंदना कौन करे ?

वंदना तो गुण युक्त की ही होती है और गुण सहित तो संसार में मात्र दो ही पात्र पाये जाते हैं १) मुनि २) श्रावक, अतः वंदना योग्य भी दो ही हैं १) मुनि २) श्रावक ॥

इसी गाथा द्वारा उत्तम श्रावक आदि के लिये कहा गया इच्छाकार शब्द का अर्थ भी वंदना (नमस्कार) ही है यह सिद्ध हो जाता है ॥

इस प्रकार पुनः सिद्ध हुआ कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक गुण रहित अवंदनीय, असंयमी नहीं, अपितु गुण सहित, वंदनीय व संयमाचरण के भेद रूप हैं ॥

प्रमाण : ३ (प्रकरण : स्त्री मुक्ति निषेध)

ग्रंथ : श्री धवला जी ग्रंथकार : आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक १/पृष्ठ ३३५

"सवासस्त्वाद् प्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः ॥ भावसंयमस्तासां सवास-सामप्य विरुद्धं इति चेत् ? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्रा-द्युपादानान्यथानुपपत्तेः ॥

अर्थ :-

आचार्य श्री : - वस्त्र सहित होने से उनके (स्त्रियों के) संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥

शंकाकार :- वस्त्र सहित होने पर भी उन द्रव्य स्त्रियों के भाव संयम होने में कोई विरोध नहीं है ॥

आचार्य श्री :- उनके भाव संयम नहीं है, अन्यथा उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण करना नहीं बन सकता है ॥

बैनाड़ाजी द्वारा प्रस्तुत इस प्रमाण का बहुभाग यद्यपि प्रमाण-अ (भाव संग्रह, गाथा-९५) की टीका में आ चुका, किंतु फिर भी :-

प्रिय बैनाड़ा जी,

इस प्रमाण के द्वारा आप क्या कहना चाहते हैं ?

यही न कि असंयम का अविनाभावी वस्त्र आर्यिका माताओं ने ग्रहण किया है, इसलिये वे असंयमी हैं ?

यदि ऐसा है तो क्या यहाँ से आप यह अर्थ ध्वनित करवाना चाहते हैं कि आर्यिका माताये यदि असंयम के अविनाभावी वस्त्र का त्याग कर दें तो संयमी हो जायेंगी ?

आपकी मीमांसा से तो यही सिद्ध हो रहा है ॥

किंतु नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

वे संपूर्ण वस्त्रों का भी यदि त्याग कर दें तब भी उनक चित्त संयम की शाखा रूप क्षायोपशमिक संयमासंयम परिणामों से ही परिणमित रहेगा, सकल संयम परिणाम से नहीं ॥

यहाँ पर तो मात्र इतना ही अर्थ ध्वनित होता है कि वह मत जिसमें दीक्षित (वस्त्र सहित) स्त्री के भाव संयम की सिद्धि कर उसकी मुक्ति बताई है, उसका निषेध किया गया है कि सर्व सावद्य के त्याग रूप भाव संयम की स्वामिनी होने पर भी उनके मात्र वस्त्र संबंधी भाव असंयम की प्राप्ति है ॥

यहाँ स्त्रियों के निर्वस्त्र दीक्षा के अभाव का रहस्य बतलाया गया है कि स्त्रियों के सवस्त्र दीक्षा क्यों कही है ?

आचार्य कुंदकुंद देव भी इसी रहस्य का उद्घाटन करते हैं :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा २२४/१-२

(प्रकरण : स्त्री मुक्ति निषेध)

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥
णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥

अर्थ :- (जयसेनाचार्य जी कृत तात्पर्य वृत्ति जी से (

शंका :- श्रमणों के इंद्र भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट धर्म इस लोक तथा पर लोक को नहीं

चाहता है, (अतः जिन स्त्रियों के मन में इस लोक व परलोक की वांछा नहीं है) उस धर्म में किसलिये उन स्त्रियों का सवस्त्र लिंग (निर्ग्रन्थ लिंग से) भिन्न कहा गया है ?

समाधान :- वास्तव में उसी जन्म से स्त्रियों के (सर्व कर्म निर्जरा रूप) मोक्ष नहीं देखा गया है, इसलिए स्त्रियों का वेश आवरण सहित (निर्ग्रन्थ लिंग से) पृथक् कहा गया है ॥

यहाँ शंकाकार प्रश्न कर रहा है कि हे आचार्य भगवंत ! जिनेन्द्र भगवान् का धर्म न इस लोक और न ही परलोक के सुखों का कांक्षी है, तब जिन स्त्रियों के न तो इस लोक और न ही परलोक के सुखों की कांक्षा है, उनके घर व घर संबंधित समस्त आरंभ-परिग्रह का त्याग हो जाने पर भी नग्न निर्ग्रंथ लिंग से भिन्न सवस्त्र लिंग क्यों कहा है ?

आचार्य भगवंत समाधान प्रस्तुत करते हैं कि हे शिष्य ! यद्यपि तुम्हारा कथन ठीक है कि वैराग्य को प्राप्त ये स्त्रियाँ मोक्षाभिलाषी हैं, पुरुषों की अपेक्षा प्रमाद बाहुल्य, मोह बाहुल्य एवं देह अशुद्धि की प्रचुरता होने पर भी अपने प्रमाद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर व देह अशुद्धि सम्बन्धी प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त से शुद्ध होती हुई मोक्ष मार्ग के सन्मुख हुई है ॥

इनमें रत्नत्रय सम्पन्नता को कहने वाली आचार्य कुंदकुंद देव द्वारा ही कही हुई एक और गाथा दृष्टव्य है :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसार जी **ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव** **गाथा : २२४-८**

(प्रकरण : स्त्रियों के रत्नत्रय की सिद्धि, किंतु मुक्ति का निषेध)

जदि दंसणेण सुद्धा, सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।
घोरं चरदि य चरियं, इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिया ॥

अर्थ :- यद्यपि (वैराग्य सम्पन्न स्त्री) सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, ग्यारह अंग की पाठी हो और घोर चारित्र का आचरण भी करे फिर भी उस स्त्री के (उसी भव से) सर्व कर्म की निर्जरा नहीं कही गयी है ॥

अर्थात्

इस लोक व परलोक की वांछा रहित ये वैराग्य सम्पन्न स्त्रियाँ, सम्यक् दर्शन-सम्यक् ज्ञान से मंडित, सम्यक् चारित्र को घोर (अतिचार रहित व दूसरे उपवासादि तपों से संयुक्त) आचरती हुई भी नित्य एक देश निर्जरा से संयुक्त है, निर्वाण योग्य सर्व देश निर्जरा की सामर्थ्य से हीन होने के कारण सर्व सावद्य के त्याग पूर्वक उन जिनेन्द्र भगवान् द्वारा निर्ग्रन्थ लिंग से भिन्न सवस्त्र लिंग की धारिणी कही गयी है ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान को इनमें रत्नत्रय सर्व सावद्य के त्याग पूर्वक सवस्त्र ही इष्ट है ॥

अतः जब जिनेन्द्र भगवान को ही इनमें रत्नत्रय सवस्त्र ही इष्ट है तब इन्हें पूर्णतः असंयमी कहना क्या श्रुत अवर्णवाद का विषय नहीं बनेगा ?

निश्चित ही बनेगा ॥

और तो और प्रिय बैनाड़ा जी !! इन आर्यिका माताओं का वस्त्र संबंधी असंयम भी अनर्गल प्रवृत्ति रूप यद्वा तद्वा आचरण मय नहीं है, अपितु संयमाचार (यत्नाचार) पूर्वक है ॥

उस वस्त्र को ग्रहण करने में, रखने में, उपयोग करने में व स्वच्छ करने सम्बन्धी यत्नाचार के सूत्र आगम में कहे हैं कि इतने ही वस्त्र, इससे अधिक नहीं, यह ही रंग, इससे अन्य नहीं, इतने ही जल से, इससे अधिक जल से नहीं और ऐसे ही जल से, इससे अन्य जल से नहीं ॥

यदि कभी साड़ियों की संख्या दो से अधिक अथवा साड़ी का वर्ण शुक्ल अर्थात् सफेद से अन्य हो जाय तो इन्हें घोर प्रायश्चित्त की भागिनी प्रायश्चित्त ग्रन्थों में बतलाया गया है ॥

वैसे ही प्रमाण अधिक जल से धोने अथवा धुलवाने पर या अप्रासुक जल का प्रयोग हो जाने पर भी इनके लिए कठोर दण्ड का प्रावधान किया गया है ॥) सिद्धांत सार संग्रह, श्रीमद् नरेन्द्रसेनाचार्य जी)

यही नहीं, वस्त्र संबंधी आरंभी असंयम की निवृत्ति हेतु पुनः प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त विधान आगम में पृथक् से कहा ही गया है ॥

अर्थात् वस्त्र संबंधी असंयम में भी वे अन्यथा/अनर्गल नहीं वर्त सकती ॥ संयम पूर्वक वर्तना होता है ॥ अतिचारों से बचते हुये, अनाचारों का अभाव करते हुये ॥

यह असंयम चूंकि संयमाचार पूर्वक है, अतः विष कणिकावत् है, साक्षात् विष वत् नहीं ॥

साक्षात् विष वत् नहीं है इसलिए आचार्य कुंदकुंददेव ने इन्हें रत्नत्रय सम्पन्न कहा ॥

यह विष रत्नत्रय में दूषण तो लगाता है, किंतु उसका अभाव नहीं करता ॥

अभाव नहीं करता इसी से महाव्रतों का उपचार आरोपण है ॥

यदि अभाव होता तो महाव्रतों का आरोपण ही नहीं होता, अपितु सामायिक शिक्षा व्रती को जैसे (अतिशयोक्ति अलंकार रूप) महाव्रती जैसा कह कर छोड़ दिया, उसी प्रकार इन्हें भी मात्र विशेषण दिया जाता, संस्कार नहीं ॥

और चूँकि स्वयं आचार्यों द्वारा ये उपचार महाव्रतों से संस्कारित हैं, तब हम कैसे कहें कि नहीं, ये असंयमी हैं/असंयम मार्गणाधीन (!) हैं ॥?॥

नहीं, ऐसा हम नहीं कह सकते ॥

हमें तो इन्हें वही संज्ञा देनी होगी, जिन संस्कारों से ये संस्कारित हैं ॥

प्रमाण : ई

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रंथकार : आचार्य पूज्यपाद स्वामी अध्याय ९, सूत्र १

असंयमस्त्रिविधः ॥

अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानोदय विकल्पात् ॥

अर्थ :- असंयम के तीन भेद हैं १) अनंतानुबंधी२) अप्रत्याख्यान, ३) प्रत्याख्यान कषाय के उदय विकल्प से ॥

इसके पश्चात् आदरणीय बैनाड़ा जी निष्कर्ष दे रहे हैं कि चूँकि आर्यिकाओं और क्षुल्लकों को पंचम गुणस्थान होता है अतः उनके प्रत्याख्यान कषाय का सतत उदय रहता है, इसलिए उनको असंयमी कहा जाता है ॥

यहाँ पुनः आश्चर्य होता है कि कर्म प्रकृति व उसके कार्यों से जहाँ सामान्य श्रावक तक परिचित हैं, वहीं क्या बैनाड़ा जी उसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं ?

अनभिज्ञ हुये बिना तो उपरोक्त निष्कर्ष दिये ही नहीं जा सकते ?

खैर !!

अनभिज्ञ हो तो हो, किंतु यदि इसी सर्वार्थसिद्धि को का आद्योपांत अध्ययन भी चित्त व योग को एकाग्र कर कर लिया होता तो उपरोक्त एकांत धारणा से निवृत्ति हो जाती :-

आइये देखें, सर्वार्थसिद्धिकार जी स्वयं पंचम गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय रहते विरति (संयम) के विषय में नय-विभाग पूर्वक क्या कहते हैं :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धि जी ग्रंथकार :आचार्य पूज्यपाद स्वामी अध्याय : ७/सूत्र १९

''अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्माद्यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती ? नैवम् ॥ किं तर्हि ? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षितः ॥''

अर्थ :-

शंका :- जो हिंसादिक में से किसी एक से निवृत्त होता है क्या वह अगारी व्रती है ॥?॥

समाधान :- ऐसा नहीं है ॥

शंका :- तो कैसा है ?

समाधान :- जिसके एक देश से पांचों विरति हैं अर्थात् पांचों पापों से जो एक देश निवृत्त है वह अगारी व्रती है, यह अर्थ यहाँ विवक्षित है ॥

उपरोक्त सर्वार्थसिद्धि जी में कहे वार्तालाप से श्रावकों के असंयम औदयिक भाव होता है, क्या यह अर्थ ध्वनित होता है ?

अथवा

यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि प्रत्याख्यान कषाय के उदय में भी पाँचों पापों से एक देश विरति रूप संयम ठहरता है ?

निश्चित ही यही अर्थ ध्वनित होता है कि प्रत्याख्यान कषाय के उदय में भी एक देश विरति रूप क्षायोशमिक संयम तिष्ठता है ॥

तात्पर्य प्रत्याख्यान कषाय पंचम गुणस्थानवर्ती के छट्ठे गुणस्थान के योग्य सकल संयम

परिणामों की उत्पत्ति में बाधक अवश्य है, किंतु पंचम गुणस्थान के योग्य देश संयम परिणाम की उत्पत्ति में बाधक नहीं है ॥

यह कषाय स्थावर हिंसा संबंधी इंद्रिय व प्राणी संयम को बाधक अवश्य है, किंतु त्रस हिंसा संबंधी इंद्रिय व प्राणी संयम परिणामों की घातक नहीं है ॥

इसीलिए इस सूत्र की टीका करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी की अनुमोदना करते हुये **न्यायाचार्य भट्टाकलंक देव श्री राजवार्तिक** जी में लिखते हैं कि :-

''तथा असकलव्रतोपि नैगम संग्रह व्यवहार नय विवक्षयापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते ॥''

अर्थ :- असकलव्रतोपि अर्थात् संपूर्ण व्रतों के एक देश को धारण करने वाला भी नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों की अपेक्षा व्रती कहा जावेगा ॥

इसीलिए जैसा पूर्व में ही उल्लेख किया जा चुका है कि आचार्य कुंदकुंद देव ने चारित्र-प्राभृत में संयम प्रकरण के अंतर्गत देश संयम को उसी का भेद स्वीकारा है, असंयम का नहीं ॥

अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषाय असंयम का कारण अवश्य है किंतु अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानवरण कषाय वत् संयम में सर्वथा बाधक नहीं ॥

पंचम गुणस्थान में विद्यमान त्रस-घात-विरति के परिणाम को घातने में वह पूर्णतया असमर्थ है ॥

वह असमर्थ है इसी से इसी गुणस्थान से विरत अर्थात् संयम विशेषण प्रारंभ हो जाता है ॥

आइये इसी ग्रंथ सर्वार्थसिद्धि जी से तीनों कषायों के कार्य जानें व समझें :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रंथकार : आचार्य पूज्यपाद स्वामी अध्याय ८ सूत्र ९

''अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् ॥ तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मानमायालोभाः ॥ यदुदयादेशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देश प्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः ॥ यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नंप्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमान-मायालोभाः ॥

अर्थ :-

१) अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनंत कहलाता है ॥

२) तथा जो कषाय उसकी (मिथ्यादर्शन की) अनुबंधी है वह अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ है ॥

३) जिनके उदय से जिसका दूसरा नाम संयमासंयम है ऐसी देशविरति को यह जीव स्वल्प भी करने में समर्थ नहीं होता है वे देशप्रत्याख्यान को आवृत करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं ॥

४) जिनके उदय से संयम नाम वाली परिपूर्ण विरति को यह जीव करने में समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यान (संयम) को आवृत्त करने वाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं ॥

तात्पर्य :- यदि आदरणीय वैनाड़ा जी इस अध्याय ८, सूत्र ९ का भी स्वाध्याय कर लेते तो तीनों कषायों की घात शक्ति से अवश्य परिचित हो जाते :-

१) अनंतानुबंधी अनंत संसार का संपर्क कराने वाली होने से मिथ्यादर्शन की अनुबंधी है ॥

२) अप्रत्याख्यानावरण सम्यक्त्व को नहीं घातती किंतु इसके उदय में एक देश संयम (अर्थात् किंचित् संयम) भी ग्रहण करने के परिणाम इस जीव के नहीं हो सकते ॥ अर्थात् प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक प्राप्त होने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय ही असंयम औदयिक भाव को कारण है ॥

और

३) पंचम गुणस्थान में असंयम औदयिक भाव का कारण अप्रत्याख्यानावरण कर्म का अभाव हो जाने से, प्रत्याख्यानावरण कषाय के सद्भाव में असंयम औदयिक नहीं, अपितु क्षायोपशमिक देश संयम परिणाम होते हैं, अर्थात् संयम को पूर्णतया घातने की शक्ति से यह कषाय सर्वथा हीन है ॥ इसके सद्भाव में भी संयम प्राप्त होता है ॥ अर्थात् संयम विशेषण इस कषाय के सद्भाव में भी इसी गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है ॥

यही देशसंयम मात्र वस्त्र संबंधी असंयम व शेष संयम रूप सर्व सावद्य विरति अर्थों में आर्यिका माताओं के पास पाया जाता है ॥ अर्थात् सर्व सावद्य का त्याग और मात्र वस्त्र संबंधी असंयम का वह भी संयमाचार पूर्वक सद्भाव ॥

अरे भाई वैनाड़ा जी !! देश संयम औदयिक नहीं, क्षायोपशमिक (मोक्षमार्ग के योग्य) भाव है प्रत्याख्यानावरण कृत असंयम में इस क्षायोपशमिक भाव को घातने की शक्ति का सर्वथा अभाव है ॥

इसमें आर्यिका माताओं के महाव्रत परिणामों को मलिन करने की शक्ति का तो सद्भाव है, किंतु उनका घात करने की शक्ति से यह सर्वथा हीन है ॥

इसलिए जैसा कि हमने ठीक अभी कहा कि आर्यिका माताओं में महाव्रत सर्वसावद्य के त्याग पूर्वक किंतु मात्र वस्त्र संबंधी असंयम वह भी यत्नाचार पूर्वक इस कषाय के सद्भाव में भी पाये जाते हैं, अतः इस कषाय में आर्यिका माताओं के सर्वसावद्य त्याग परिणामों को घातने की शक्ति का नितांत अभाव है ॥

और हाँ !! अपने पक्ष में आप जिन ग्रंथों व आचार्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करें कृपया उन्हीं ग्रन्थों का आद्योपरान्त अध्ययन व उन आचार्यों की विवक्षा समझने में पारंगत भी बनें ॥

अन्यथा जैसे यहाँ विवक्षाहीन एक उपदेश ग्रहण कर लिया व इसी से संबंधित दूसरे उपदेश को स्मरण में ही नहीं रखा, यही स्थिति हमेशा बनी रहेगी ॥

यह असावधानी स्वयं के लिए तो घातक है ही, किंतु मंद बुद्धि सहपाठियों के लिए पत्थर की नौका के समान है ॥

अरे भाई बैनाड़ाजी !! इसी कषाय के उदय में साधा गया सल्लेखना रूप समाधि मरण आचार्यों ने बाल पंडित मरण विशेषण से स्तुति योग्य व परंपरा मुक्ति का कारण बतलाया है ॥

यही नहीं, जहाँ असंयत सम्यग्दृष्टि का संसार उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल कहा, जो कि काल अपेक्षा अनंत है, वहीं इसी प्रत्याख्यान के सद्भाव में साधे गये समाधि मरण के कारण उस का संसार ७ या ८ भव (अपेक्षा सहित) कहा है ॥

सुप्रसिद्ध न्यायाचार्य भट्टाकलंक देव श्री राजवार्तिक जी में अध्याय ७, सूत्र २२ की टीका, वार्तिक ११ में कहते हैं :-

''शास्त्रोक्तेन विधिना सल्लेखनां जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवति ॥''

अर्थ :- ''शास्त्रोक्त विधि से जो गृहस्थ सल्लेखना को धारण करता है वह उत्तमार्थ का आराधक होता है ॥

क्या इस उत्तमार्थ की आराधना इस देशव्रती के जो असंयम वर्तता है, उसका अतिशय है ?

अथवा महिमामय देश संयम परिणामों का?

निश्चित ही देश संयम परिणामों की महिमा बिना उत्तमार्थ की आराधना हो ही नहीं सकती ॥

अतः सिद्ध हुआ कि यह प्रत्याख्यानावरण कषाय से युक्त संयमासंयमी उत्तमार्थ की आराधना करने वाले महिमामंडित देश संयम परिणामों की शक्ति से संपन्न होता है ॥

इस प्रत्याख्यान कृत असंयम में महिमामंडित देश संयम परिणामों को घातने की शक्ति का सर्वथा अभाव है ॥

अतः हे भगवान् !! इस उत्तम आराधना को साधने वाले और इस आराधना को साधने के मार्ग पर अग्रसर देशसंयमियों को नमस्कार (इच्छाकार) करते हुये, उनकी इसी शक्ति से संयुक्त होने की मैं भी इच्छा करता हूँ, कामना करता हूँ, भावना करता हूँ ॥

प्रमाण - ६

ग्रंथ : श्री प्रवचनसार जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंददेव गाथा : २२४-७

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥

अर्थ :- स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनिस्थान में, स्तनों के मध्य, नाभिप्रदेश में तथा कांख में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कही गयी है, इस कारण उनके संयम कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥

इस विषय पर समाधान पूर्ण चर्चा हो चुकी है कि उपरोक्त दोष सकल संयम में तो बाधक हो सकता है, किंतु पंचम गुणस्थान के योग्य संयमासंयम में नहीं, जिसे कि स्वयं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेव संयमाचरण की शाखा मान रहे हैं ॥

यह सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति व घात संकल्पी हिंसा का भेद नहीं है, अतः संयमासंयम क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग के योग्य परिणामों की उत्पत्ति में बाधक नहीं है ॥

यदि बाधक हो तो कहो ?

यदि यह सम्मूर्छन सूक्ष्म मनुष्यादि का घात संकल्पी हिंसा होता तो, पंचम गुणस्थान से स्वदारसंतोष नामक अहिंसाणुव्रत का ही अभाव हो जाता ॥

क्योंकि मैथुन में तत्पर पुरुष के लिंग के प्रहार से स्त्री की योनि में उत्पन्न होने वाले असंख्यात सम्मूर्छन मनुष्यों की हिंसा इस अहिंसाणुव्रती के होती ॥

अतः प्रमत्तयोग से मैथुन सेवन में तत्पर वासनाधीन पुरुष के ही जब इस हिंसा के रहते पंचम गुणस्थान व अहिंसाणुव्रत दोनों रह सकते हैं तो फिर यह संकल्पी हिंसा कैसे हो सकती है ?

अर्थात् त्रैकालिक नहीं हो सकती ॥

दूसरे यह हिंसा प्रमत्त योग से अभिभूत पंचम गुणस्थान की छट्ठी प्रतिमा तक ही पायी जाती है, सप्तम् आदि में नहीं ॥

सप्तम् आदि प्रतिमाओं में यह हिंसा मैथुन सेवन परिणाम संयुक्त प्रमत्तयोग से ना होकर अशक्यानुष्ठान रूप है ॥

चूँकि अशक्यानुष्ठान रूप है अतः प्रमत्त योग का अभाव होने से द्रव्य हिंसा मात्र है, भाव हिंसा नहीं ॥

अतः इसी गुणस्थान में सप्तम प्रतिमा से मैथुन सेवन से निवृत्ति रूप ब्रह्मचर्य व तत्जनित हिंसा सम्बन्धी महाव्रत ही वर्तता है, देशव्रत नहीं ॥

इस विषय में चर्चा पूर्व में तो की ही, आगे और भी करेंगे ॥

प्रमाण - चर्चा ३ से (बंध और उसके प्रत्यय)

अंतिम :-

चर्चा ३ में श्री गोम्मटसार जी गाथा ७८७ का आश्रय ले वे निष्कर्ष दे रहे हैं कि पंचम गुणस्थान में बंध के ३ प्रत्यय हैं (भले ही वह आर्यिका क्षुल्लक आदि हों)

गाथा इस प्रकार है :-

चदुपच्चइगो बंधो पढ़मे गंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगविदयं उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्मि ॥

अर्थ :-

मिथ्यादृष्टि के ४ प्रत्ययों से बंध होता है, उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थान में मिथ्यात्व के बिना ३ प्रत्ययों से ही बंध है, किंतु एक देश असंयम के त्यागने वाले देश संयम गुण स्थान में दूसरा अविरत प्रत्यय विरत कर मिला हुआ है तथा आगे दो प्रत्यय पूर्ण ही है ॥

इसके पश्चात् पुनः वे निष्कर्ष दे रहे हैं कि पाँचवें गुणस्थान में तीनों कारणों से बंध होता है ॥

सच कहूँ तो मुझे सूझ ही नहीं रहा है कि मैं बैनाड़ा जी के लिये क्या विशेषण दूँ ?

ऊपर गाथा में कितना स्पष्ट कहा है कि दूसरे सासादन से लेकर चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टियों में कोई अंतर नहीं है ॥

तीनों समान हैं ॥

किंतु पंचम गुणस्थानवर्ती इनसे भिन्न है क्योंकि उसका यह अविरत प्रत्यय विरत अर्थात् निर्जरा परिणाम कर मिश्रित है ॥

अब पाठकगण, आप स्वयं बतलाइये जिसमें यह प्रत्यय निर्जरा कर संयुक्त है, वे अनिर्जरित संयुक्त प्रत्यय परिणामों की जाति वाले कैसे हो सकते हैं ?

और बैनाड़ा जी फिर ध्यान दीजिये, जैसा कि चर्चा - २ पूर्वार्द्ध में हम सिद्ध कर आये हैं कि पहले से चतुर्थ गुणस्थान तक के अविरत बंध प्रत्यय का नाम अप्रत्याख्यान है और पंचम के प्रत्यय का नाम प्रत्याख्यान ॥

दोनों अर्थात् पहले से चौथे व पंचम इन दोनों गुणस्थानों में हेतु भिन्न होने से दोनों एक मार्गणाधीन त्रैकालिक नहीं हो सकते ॥

यहाँ पंचमगुणस्थान में भी प्रत्याख्यान अविरत प्रत्यय के बंध में विशेषता है और वह यह कि द्वितीय प्रतिमाधारी के पास तो संयम अर्थात् विरति अणु बराबर है, किंतु आर्यिका माताओं में संयम अर्थात् विरति नहीं, अपितु असंयम अणु बराबर है, और वह भी यत्नाचार पूर्वक ॥

असंयम इतना अणु है, इतना अणु है कि आचार्य भगवंतों ने ही नहीं, अपितु स्वयं तीर्थंकर प्रभु ने इस अणु बराबर असंयम की उपेक्षा कर इन्हें न सिर्फ महाव्रती कहा अपितु आचार्यों को आज्ञा भी दी कि इन्हें संस्कारित महाव्रतों के संस्कारों से करो ॥

और इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु की आज्ञानुसार उपेक्षा योग्य अणु बराबर असंयम की उपेक्षा कर आचार्य भगवंतों ने इन्हें मात्र पाँच महाव्रतों के ही संस्कारों से संस्कारित नहीं किया अपितु इन्हें संबोधन भी पंच महाव्रतों की जाति के ही दिये जैसे श्रमणी, संयासिनी, सर्वविरत, साध्वी आदि-आदि ॥

सारांश :- आइये, आगे बढ़ने से पूर्व, जो चर्चायें पूर्व में हमने की उनका यहाँ विस्मरण के भय से पुनः स्मरण और चिन्तवन कर लें :-

१) क्या इनके अंतरंग निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव लिंग नहीं वर्तता है ?

२) क्या इनका बाह्यलिंग, अंतरंग भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारण नहीं हैं ?

३) क्या इनके असंयम नामक औदयिक भाव वर्तता है ?

४) क्या ये सम्यक् दर्शन व सम्यग्ज्ञान से मंडित, घोर आचरण आचरती हुई रत्नत्रय (महाव्रत) रहित कही जा सकती हैं ?

५) क्या इनके लिये कहा गया वस्त्र सम्बन्धी असंयम यद्वा तद्वा (अनर्गल) प्रवृत्ति रूप है अथवा यत्नाचार पूर्वक ?

६) क्या बगैर महिमामय देश संयम परिणामों से मंडित हुए समाधि रूप उत्तमार्थ को साधा जा सकता है ?

७) क्या उसी उत्तमार्थ के उत्तम श्रावक व श्रावक सामान्य साधक नहीं है ?

८) क्या आचार्यों ने इन्हें (आर्यिका माताओं को) द्वितीय सामायिक प्रतिमाधारी को दिये गये (अतिशयोक्ति अलंकार रूप) महाव्रती विशेषण मात्र से मंडित किया है ?

अथवा,

महाव्रत के संस्कार स्वयं उन्होंने ही इन पर आरोपित किये हैं ?

९) क्या उपचार का अर्थ अभाव होता है ?

अथवा,

समीपता ?

१०) यदि अभाव होता है तो क्या संस्कार दिये जा सकते हैं ?

११) और यदि समीपता है तो स्वीकार करो कि मुनिराजों के पश्चात् सर्वाधिक महाव्रत जनित आत्मिक विशुद्धि और संयम की स्वामिनी ये ही हैं, इनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ॥

१२) अर्थात् मुनियों के निकटवर्ती पूजनीय संयमांशों की ये भी स्वामिनी हैं, जिस कारण ही आदरणीय बैनाड़ा जी भी स्वयं भक्तिभाव से ओतप्रोत हो इनके दर्शन-विनय को इनके श्री चरणों में जाते हैं ॥

१३) इसी कारण कुंदकुंदाचार्य जी इन्हें इच्छाकार (अन्य आचार्यों की अपेक्षा वन्दामि) नमस्कार अर्थ में, के योग्य कहते हैं ॥

१४) स्वयं कुंदकुंदाचार्य जी के शब्दों में चूँकि ये जिनलिंगी, जिनमार्गी, श्रमणी हैं,

अतः

ये निःसंकोच नमस्कार के योग्य हैं, अर्चना के योग्य हैं, पूजा के योग्य हैं, वंदना के योग्य हैं ॥

१५) अरे भाई !! क्या निर्विकार स्व संवेदन रूप भावलिंग जिन-जिन मुद्राओं में है, वे मुद्रायें कहीं भी किसी भी काल में अपूजनीय, अवंदनीय व अनमस्करणीय हो सकती हैं ?

१६) इस निर्विकार स्व संवेदन रूप भावलिंग के स्वामी सिर्फ मुनि नहीं, मुनियों के अलावा तीन पात्र और कहे गये हैं :-

१) आर्यिका मातायें २) ऐलक महाराज

३) उत्तम श्रावक/श्राविकाएँ (क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ) ॥

१७) इनके बाह्यलिंग पूर्वक अंतरंग निर्विकार स्व-संवेदन रूप भावलिंग को किया गया नमस्कार, पूजा, अर्चना एवं वंदना वर्तमान में पुण्य बंध व एक देश कर्म निर्जरा को और परंपरा से मुक्ति को कारण है ॥

॥ इत्यलम् ॥ ❑

चर्चा : ३ (चर्चा ५ समन्वित)

चर्चा-३ :- आगम में स्त्रियों की दीक्षा कही है या नहीं ?

समाधान :- आइये प्रारंभ पुनः बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण से ही करते हैं :-

ग्रंथ : सूत्र पाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २४

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥

अर्थ :- स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि और कांख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव कहे गये हैं, अतः उनके प्रव्रज्या (दीक्षा) कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥

प्रकरणसंबंधी ज्ञान के अभाव में अक्सर व्यक्ति भ्रांतियों को ग्रहण कर लेता है, जैसा कि बार-बार आदरणीय बैनाड़ा जी के साथ हो रहा है।

यही नहीं, अपितु विवादास्पद शब्द का अर्थ न करके और उसके एकार्थक शब्द व भेद-प्रभेदों पर विचार किये बिना ही वे निष्कर्षों पर आ जाते हैं ॥

तथा वे तो जिनागम के इस महत्वपूर्ण सूत्र का ही लोप कर जाते हैं कि

अर्पितानर्पित सिद्धेः ॥

बगैर उपरोक्त अथवा अन्य भी न्याय निक्षेपादि विषयों में पारंगत हुए किसी भी गंभीर विषय पर उद्गार निकालने के पूर्व श्रुत अवर्णवाद के भय से भयभीत होना तो सीखना ही चाहिये ॥

जैसे :-

बगैर औदयिक व क्षायोपशमिक भावों के भेदों में पारंगत हुए पंचम गुणस्थानवर्तियों को संयमासंयमी (क्षायोपशमिक) न कह कर सर्वथा असंयमी अर्थात् औदयिक भाव युक्त कहना ॥

अथवा,

आचार्यों द्वारा प्रयोग किये पद **संयम नहीं होता** का न्याय पारंगतता के अभाव में विवक्षाहीन अर्थ ग्रहण करना कि **असंयम ही होता है** ॥

न्याय निक्षेप पारंगत विचार करता है कि "संयम नहीं होता है"

इस पद से तात्पर्य क्या है :-

(१) असंयम ही होता है ?

अथवा,

(२) संयमासंयम होता है ?

क्योंकि संयम के अभाव में ये दो परिणाम ही उपलब्ध होते हैं, अतः एक का एकांत नहीं कर सकते ॥

इनमें भी असंयम औदयिक परिणाम तो चतुर्थ गुणस्थान तक ही उपलब्ध होता है, पंचम आदि में नहीं ॥

अतः ''संयम नहीं होता'' इस पद का सार्थक अर्थ है कि पचम गुणस्थान में क्षायोपशमिक संयमासंयम भाव प्राप्त होता है,

चूँकि संयमासंयम औदयिक भाव नहीं होता अतः उसे मात्र असंयम शब्द से संबोधित भी नहीं कर सकते अथवा असंयम भाव की शाखा या उपशाखा भी नहीं कह सकते ॥ इस प्रकार ''संयम नहीं होता है'' इस पद का स्थावर विरति रूप सकल संयम नहीं होता, त्रस विरति रूप देश संयम होता है'' यह अर्थ हमें ग्रहण करना चाहिये ॥

अन्यथा पंचम गुणस्थान को क्षायोपशमिक के स्थान पर औदयिक भाव ही कहना होगा,

व आचार्य परंपरा के विपरीत एक नया ही सूत्र निर्मित करना होगा कि पंचम गुणस्थान में देश चारित्र का क्षायोपशमिक भाव नहीं होता ।.

इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव के १८ भेदों में संयमासंयम कम करके १७ भेद कहने होंगे,

और औदयिक भाव में इसे जोड़ कर औदयिक के २१ के स्थान पर २२ भेद कहने होगें ॥

अतः छोटे से छोटे सूत्र भी न्याय व निक्षेपादि में पारंगतता के अभाव में बड़े-बड़े मिथ्यात्वों को आश्रय दे जाते हैं, जैसा कि ऊपर हुआ है ॥

पूर्व की तरह इस चर्चा नं. ३ में भी निर्णय दूषित हैं हैं अथवा निर्दोष, आइये, इसे तय करने का प्रयास करें :-

ऊपर बैनाड़ा जी द्वारा प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत गाथा में **संयम कैसे हो सकता है ?** की ही शैली में आचार्य कृत उपदेश है कि **स्त्रियों को प्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?**

इसी उपदेश का पुनः एकांत कर बैनाड़ा जी निष्कर्ष दे रहे हैं कि स्त्रियों के प्रव्रज्या कैसे हो सकती है ? इस पद का अर्थ है कि स्त्रियों की प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा हो ही नहीं सकती ॥

अब यहाँ न्याय व निक्षेपादि पारंगत को विचार करना होगा कि **दीक्षा नहीं हो सकती,**

इस पद से तात्पर्य क्या है :-

(१) क्या स्त्रियों के दीक्षा ही नहीं होती यह,

अथवा,

(२) निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं होती/अन्य (वैकल्पिक) दीक्षायें हो सकती हैं यह ?

यदि हम प्रथम अर्थ ग्रहण करते हैं, तो पुनः प्रश्न उठता है कि क्या दीक्षित मुनिलिंग के अलावा अन्य दीक्षित लिंगियों का जिनागम में अभाव है ?

क्या जिनेन्द्र भगवान ने जिनमत में शेष लिंगों की प्ररुपणा ही नहीं की है ?

क्योंकि दीक्षा का अर्थ है आचार्य भगवंत अर्थात् दीक्षा गुरु से विधि पूर्वक अपने योग्य आगम प्रणीत लिंग ग्रहण करना ॥

तो क्या जिनागम में सिर्फ निर्ग्रंथ लिंग को ही ग्रहण करने की विधि निरूपित है ? शेष लिंगों को ग्रहण करने की विधि कही ही नहीं गयी है ?

यदि नहीं कही गयी है तो, हम सभी को आदरणीय बैनाड़ा जी के निष्कर्षों को उचित कहना होगा ॥

और यदि कही गयी है तो पुनः आदरणीय बैनाड़ाजी के निष्कर्षों पर प्रश्न चिह्न लग जायेगा ॥

इसलिये आइये, सर्वप्रथम यही खोजें कि बैनाड़ा जी को मान्य ग्रंथों में स्त्रियों को दीक्षित कहने वाले स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है या नहीं ?

सर्व प्रथम श्री मूलाचार जी से :-

१) ग्रंथ श्री मूलाचारजी ग्रंथकार : आचार्य वट्टकेर स्वामी गाथा : १९०

(अधिकार : समाचार अधिकार)

अविकार वत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
धम्मकुल कित्तिदिक्खा पडिरूव विसुद्ध चरियाओ ॥

अर्थ :- विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीना युक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई, वे शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं। धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती है ॥

उपरोक्त गाथा में आर्यिकायें किन विशेषताओं से मंडित होती हैं, इसे दर्शाया गया है ॥ उनके लिये इस गाथा में दीक्षा शब्द का उपयोग किया गया है :-

''ग्रहण की गयी दीक्षा के अनुकूल चर्या करती है ॥''

२) ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : श्री जयसेनाचार्य जी गाथा : २२४-८

(श्री तात्पर्य वृत्ति जी)

''शतवर्ष दीक्षिताया अर्जिकायाः''

अर्थ :- सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका

३) ग्रंथ : श्री मूलाचार जी टीकाकार : श्री वसुनंदी सिद्धांत चक्रवर्ती गाथा : ९११

(गाथा में प्रयुक्त मुनि के ज्येष्ठ गुण की टीका में)

''बहुकाल प्रव्रजिताया अप्यार्यिकाया''

अर्थ :- बहुत काल से दीक्षित आर्यिका से भी

४) ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : श्रीमद् जयसेनाचार्य जी गाथा : २२४-८

(श्री तात्पर्य वृत्ति जी)

सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा,

अर्थ :- सीता, रुक्मणी, कुंती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि ने जिन दीक्षा लेकर.....

५) ग्रंथ : श्रीतत्वार्थराजवार्तिक जी टीकाकार : भट्टाकलंक देव अध्याय : ७ सूत्र १६,

(वार्तिक:१)

"स्त्रीप्रव्रजिकयोर्"

अर्थ :- स्त्री (सामान्य) प्रव्रजिता (दीक्षित स्त्री) दोनों के

(विशेष) हम आशा करते हैं कि प्रिय बैनाड़ा जी को उनके द्वारा प्रमाण रूप से प्रस्तुत श्री आदिपुराण जी व श्री उत्तरपुराण जी के वचन प्रमाण रूप से स्वीकृत होंगे, (अनुवादक पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर):-

६) ग्रंथ : श्री आदिपुराण जी ग्रंथकार : भगवान जिनसेनाचार्य अध्याय २४ श्लोक १५

भरतस्यानुजाब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् ।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥

अर्थ :- भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी (स्वामिनी) पद को प्राप्त हुई थी ॥ वह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थी ॥

७) ग्रंथ : श्री उत्तरपुराण जी ग्रंथकार : आचार्य गुणभद्र स्वामी अध्याय :२९ श्लोक २१२

माता ते दान्तमत्यन्ते दीक्षिता क्षान्तिरद्य ते ॥

अर्थ :- तेरी माता ने दान्तमती के समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यमती माता से तूने दीक्षा धारण की है ॥

८) यहाँ एक आश्चर्य और घट रहा है कि इनको दीक्षा का निषेध करने वाले स्वयं बैनाड़ा जी इनके लिए दीक्षित शब्द का प्रयोग कर रहे हैं (हैं न आश्चर्य !!) :-

प्रस्तुत परिपत्रक चर्चा ९ से :-

.....आचार्य शांतिसागर जी से दीक्षित: सबसे अंतिम क्षुल्लिका...

तात्पर्य :- इस प्रकार दीक्षा शब्द का प्रयोग जिनागम में स्त्रियों के लिये भी किया गया है इसके प्रमाण सर्वमान्य ग्रंथों से प्राप्त हो जाने के पश्चात् (प्रमाण और भी हैं, विस्तार भय से मात्र चरणानुयोग व उसके आश्रय से प्रथमानुयोग व एक प्रमाण श्री राजवार्तिक जी द्रव्यानुयोग का लिया है) आइये, प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा शब्द की परिभाषा खोजें :-

परम पूज्य कुंदकुंदाचार्य जी ने श्री प्रवचनसार जी में दीक्षा अथवा प्रव्रज्या शब्द का प्रयोग दीक्षा ग्रहण प्रकरण में नहीं किया है ॥

प्रव्रज्या अथवा दीक्षा शब्द के स्थान पर :-

''लिंगं आदाय'' (गाथा:२०७)

अर्थ :- लिंग ग्रहण करके.....

इस शब्द का प्रयोग किया है ॥

अर्थात् दीक्षा शब्द का अर्थ लिंग ग्रहण होता है ॥

तात्पर्य :-

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे लिंग धारण करने वाले ही दीक्षित कहलाते हैं ॥

जिनलिंगी, दीक्षित, प्रव्रज्यित आदि शब्द एकार्थवत् हैं ॥

पुनःश्च :-

यह प्रश्न उठने पर कि लिंगी कौन ?

तो उत्तर होगा कि जिन्होंने लिंग ग्रहण किया है वे ॥।

अब पुनः प्रश्न उठेगा कि किससे ?

तो परम पूज्य कुंदकुंदाचार्य जी उत्तर देते हैं कि :-

''**गुरुणा परमेण**'' (श्री प्रवचनसार जी, गाथा २०७)

टीका :- (संस्कृत टीका श्री तात्पर्य वृत्तिजी से)

दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण ॥ दीक्षाकाले तु दीक्षा गुरुणा.....

अर्थात् :- दिव्य ध्वनि के काल की अपेक्षा परमागम का उपदेश करने रूप अरहंत भगवान परम गुरु हैं और दीक्षा दाता साधु परम गुरु हैं ॥

अर्थात् यह लिंग दीक्षा काल में दीक्षा गुरु द्वारा ग्रहण किया जाता है ॥

तात्पर्य दीक्षा काल में दीक्षा गुरु द्वारा लिया गया लिंग ही दीक्षा अर्थात् प्रव्रज्या है ॥

देखिये :- ''गुरुणा परमेण'' इस शब्द का अर्थ टीकाकार दीक्षा गुरु कर रहे हैं और दीक्षा दे चुकने के पश्चात् व्रतों का छेद होने पर अर्थात् अतिचार आदि दोषों के लगने पर व्रतों की शुद्धि अथवा व्रतों में पुनःउपस्थापना के लिये दीक्षित को जिनके पास जाने को कहा है उसके लिए आचार्य कुंदकुंद देव अन्य संज्ञा का प्रयोग कर रहे हैं :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसार जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २१०

''**पव्वज्जदायगो**''

टीका :- प्रव्रज्या दायक :

अर्थात् :- पूर्व में जिसने लिंग ग्रहण करवाया वह ॥

इस प्रकार दीक्षा शब्द का अर्थ लिंग ग्रहण, यह सिद्ध होने के पश्चात् आइये देखें जिनेन्द्र

भगवान ने स्त्रियों के लिये भी ग्रहण करने योग्य किस लिंग का निर्देश किया है अथवा नहीं ?

इसी ग्रन्थराज श्री प्रवचनसार जी में मुनि दीक्षा प्रकरण के पश्चात् दीक्षित स्त्री द्वारा ग्रहण करने योग्य लिंग का व्याख्यान आचार्य भगवंत ९ गाथाओं द्वारा करते हैं और कहते हैं कि :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा :२२४-९

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुल रूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥

अर्थ :- (चूंकि पूर्व गाथा कथित स्त्रियों को स्त्री पर्याय से तद्भव सर्व कर्मों की निर्जरा नहीं होती है) इसलिये उन (पूर्व गाथा कथित ही दर्शन ज्ञान चारित्र सम्पन्न) स्त्रियों का लिंग जिनेन्द्रों ने वस्त्र सहित कहा है। कुल रूप वय सहित उनके योग्य (मूलाचार आदि) ग्रन्थों में जो समाचार (चारित्र) कहा है, उसको आचरने वाली श्रमणी (आर्यिका) होती हैं ॥

यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि स्त्रियों के लिये भी पुरुषों की तरह लिंग अर्थात् दीक्षा जिनेन्द्र भगवान ने कही है ॥

यही नहीं, उस लिंग को धारण करने वाली मुनिओं के लिये कहे गये मूलाचार जी के अनुसार आचरण करती हुई श्रमणी कहलाती है, न कि श्राविका ॥

यह पूछने पर की वह लिंग कैसा कहा गया है ?

तो उत्तर यह है कि श्रमणों का लिंग निरावरण होता है व श्रमणियों का सावरण ॥

पुनः पूछा गया है कि हे भगवान !! सावरण क्यों ?

तो आचार्यों का उत्तर है कि उनके उस स्त्री पर्याय से तद्भव मोक्ष का अभाव है इसलिये ॥ तद्भव मोक्ष के अभाव में लिंग ही नहीं, ऐसा नहीं है, अपितु उनके पास परंपरा से मोक्ष साधने वाला सावरण लिंग जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ है ॥

तात्पर्य उनका श्रमणी संज्ञा वाला यह सावरण लिंग तद्भव नहीं परंपरा से मोक्ष को ही साधने वाला है ॥

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : जयसेनाचार्य जी गाथा : २२-८

(श्री तात्पर्य वृत्ति जी)

तद्भवमोक्षो नास्ति, भवान्तरे भवतु ॥

अर्थ :- (उन, जिनदीक्षा ग्रहण करने वाली सीता, रुक्मिणी आदि को) तद्भव मोक्ष नहीं है, (किन्तु) भवान्तर में है ॥

और भी देखिये :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी आचार्य पूज्यपाद स्वामी अध्याय १० सूत्र २

लिङ्गेन केन सिद्धिः ?

.....अथवा निर्ग्रंथ लिङ्गेन ॥ सग्रन्थ लिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया ॥

अर्थ :-

शंका :- किस लिंग से सिद्धि होती है ?

समाधान :-.....अथवा निर्ग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा सग्रंथ लिंग से भी सिद्धि होती है ॥

तात्पर्य :- यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि भूतपूर्व नयकी अपेक्षा सग्रंथ लिंग से भी सिद्धि होती है ॥ अतः श्रमणियों का प्रवचनसार जी की अपेक्षा सग्रंथ लिंग व श्री समयसारजी की अपेक्षा इनका अंतरंग निर्विकार स्व संवेदनात्मक भावलिंग भावी प्रज्ञापननय की अपेक्षा मुक्ति अर्थात् मोक्ष का हेतु है ॥

आज का उनका श्रमणी रूप पुरूषार्थ भविष्य में मोक्ष रूपी फल को देने वाला है ॥

उनका यह वर्तमान पुरूषार्थ भविष्य में सिद्धत्व की ही सिद्धि का महत् आयोजन है ॥

अतः मैं भूत, वर्तमान व भविष्य की सभी आर्यिका माताओं की अर्चना करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूँ ॥

जैसी पूजा श्रीआदिपुराण जी में देवों ने परम श्रमणी ब्राह्मी माता की इष्ट गुरु जिनसेनाचार्य जी के अनुसार की ॥

हे भगवान !! मेरी यह अर्चना, पूजा, वंदना, नमस्कार मेरे लिये भी मुक्ति का हेतु बने ॥

कृपा कर पाठकगण चिंतवन करें कि मोक्ष को साधने वाला लिंग क्या स्वप्न में भी अपूजनीय हो सकता है ?

हो ही नहीं सकता ॥

शंका :- यदि स्त्रियों के तद्भव मोक्ष नहीं है, इसलिये सवस्त्र लिंग उनके लिये कहा गया है, तो फिर पाँच संहननधारी पुरुषलिंगियों के भी तद्भव मोक्ष का निषेध होने पर भी उनका लिंग निर्वस्त्र क्यों कहा ?

समाधान :- स्त्री, पुरुष व नपुंसक द्रव्य लिंगियों में से मुक्ति के योग्य यही पुरुष द्रव्य लिंग ही है, इसकी प्ररुपणा के लिये ॥

अर्थात् स्त्री द्रव्य लिंग से तद्भव मुक्ति ही नहीं होती इस सत्य की स्थापना के लिये सवस्त्र व जब भी होगी इसी पुरुष द्रव्य लिंग से ही होगी इस सत्य के उद्घाटन के लिये पंच संहनन धारियों के तद्भव मुक्ति का निषेध होने पर भी निर्वस्त्र लिंग कहा है ॥

अब यहां पुनः प्रश्न उठता है कि इस सावरण लिंग के साथ इन पर संस्कार अर्थात् आरोपण किन व्रतों का होता है :-

क्या ग्यारह प्रतिमाओं रूप अणुव्रतों का

अथवा

महाव्रतों का ?

यदि यहाँ हम ग्यारह प्रतिमाओं का संस्कार स्वीकारें तो फिर इनकी संज्ञा श्रमणी नहीं, उत्तम श्राविका हो जायेगी, किंतु आचार्यों ने सर्वत्र इन्हें श्रमणी, संयतिका, महाव्रती, सर्वविरता आदि नाम ही दिये हैं ॥

तब क्या महाव्रतों का आरोपण होता है?

आइये, आचार्यों से ही पूछें ॥

अन्य प्रमाणों की अपेक्षा हमारे लिये अधिक उपयुक्त होगा कि स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा उद्धृत प्रमाणों का ही हम उपयोग करें :-

१) ग्रंथ : आचारसारजी ग्रंथकार : मुनिवर्य वीरनंद्याचार्य श्लोक : ८९

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥

अर्थ :- इसलिये बुद्धिमानों के द्वारा उन आर्यिकों के सज्जाति की ज्ञप्ति के लिये उपचार से देशव्रतों से युक्त महाव्रत आरोपण किये जाते हैं ॥

२) ग्रंथ सूत्र पाहुड़ जी टीका : श्री श्रुतसागर सूरि जी गाथा : २४ की टीका

शंका :- यदि स्त्रियों के (सर्वकर्म क्षयरूप) दीक्षा नहीं होती है, तो उन्हें पंच महाव्रत क्यों दिये जाते हैं ?

समाधान :- यह सत्य है (अर्थात् आपकी शंका उपयुक्त है कि यदि दीक्षा नहीं होती है फिर व्रतों का संस्कार क्यों) किंतु सज्जाति को बतलाने के लिए महाव्रतों का उपचार होता है ॥

३) ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : जयसेनाचार्य जी गाथा : २२४-८

अथमतम् :- यदिमोक्षो नास्तितर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानांमहाव्रतारोपणमं ?

परिहारमाह :- तदुपचारेण कुल व्यवस्था निमित्तं ॥ न चोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति, अग्निवत क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् तथा चोक्तम् "मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते" ॥

अर्थ :-

शंका :- यदि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है; तो आपके मत में किसलिये आर्यिकाओं पर महाव्रतों का आरोपण किया जाता है ?

समाधान :- यह उपचार कथन है, कुल की व्यवस्था के निमित्त कहा है ॥ जो उपचार कथन होता है, वह साक्षात् नहीं होता ॥ जैसे यह कहना कि देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है, इत्यादि की तरह ॥ जैसा कि कहा गया है (आलाप पद्धति जी में)

''मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन व निमित्त के वश उपचार प्रवर्तता है'' ॥

तात्पर्य :- उपरोक्त तीनों प्रमाण श्री बैनाड़ा जी द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं। उपरोक्त तीनों प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आरोपण तो इन पर महाव्रतों का ही होता है, ग्यारह प्रतिमाओं का नहीं ॥

४) इतना ही नहीं अपितु स्वयं बैनाड़ा जी चर्चा २ में स्त्रियों के दीक्षा प्रकरण में कहते हैं कि आर्यिका को संयमी या संयम शब्द से संबोधन किया भी गया है तो वह उपचार महाव्रतों को ध्यान में रखकर ॥

अर्थात् स्वयं बैनाड़ा जी को भी यह स्वीकार ही है कि ये महाव्रतों से ही संस्कारित हैं, उत्तम श्राविकाओं के लिये कही गयी ग्यारह प्रतिमाओं से नहीं ॥

तात्पर्य इन पर जब भी विचार किया जायेगा महाव्रतों से संस्कारित संज्ञा से ही किया जायेगा, उत्तम श्रावक या श्राविका पद से नहीं ॥

क्योंकि जो संस्कार आरोपित ही नहीं किये गये हैं, वे किसी की संज्ञा या संबोधन (विशेषण अर्थ में) कैसे हो सकते हैं ?

इसी कारण भगवान कुंदकुंदाचार्य जी ने इन्हें श्रमणी कहा ॥ इसी उपदेश अनुसार अन्य-अन्य आचार्य इन्हें संयमी, सन्यासिनी, साध्वी, सर्वविरत महाव्रती आदि विशेषण दे रहे हैं जो कि साधु शब्द के स्त्रीलिंग हैं व व्याकरण शास्त्र के नियम अनुसार दोनों (पुल्लिंग-स्त्रीलिंग) एक ही अर्थ में व्यापते हैं ॥

किन्तु.....

किन्तु यह विशेषण कुछ विशेषता अर्थात् विवक्षा लिये हुए हैं ॥

शंका :- वह विशेषता अर्थात् विवक्षा क्या है ?

समाधान :- सभी शास्त्रकारों ने महाव्रतों के आरोपण की स्वीकारोक्ति के साथ-साथ दो विशेषणों का प्रयोग इनके लियेअलग से किया है :-

१) उपचार २) सज्जाति ज्ञप्ति अर्थात् कुल व्यवस्था के निमित्त ॥

आइये, प्रारंभ बैनाड़ा जी द्वारा प्रयोग किये गये मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी द्वारा प्रयुक्त उदाहरण के अवलोकन से करें :-

जैसे यह कहना कि देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है इत्यादि की तरह....॥

यहाँ पर देवदत्त के स्थान पर आर्यिका माता को, अग्नि के स्थान पर मुनिराजों को और क्रूरता के स्थान पर महाव्रतों को रखकर चिन्तन करना होगा ॥

अर्थात् जैसे यहाँ यह कहा गया कि **देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है,** उसी प्रकार वाक्य बनेगा **आर्यिकायें मुनियों की तरह महाव्रती हैं ॥**

जैसे अग्नि में दूसरों पर दया न करने का गुण क्रूर शब्द से वर्तता है, उसी प्रकार देवदत्त भी दूसरों पर दया न करने रूप क्रूर परिणामों से परिणमित है ॥

यह उदाहरण गुण साम्यता का दिग्दर्शक है ॥

ठीक इसी प्रकार जैसे मुनियों के अंतरंग में पापाचार से निवृत्ति रूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति अर्थ में महाव्रत वर्त रहे हैं, उसी प्रकार आर्यिका माताओं में भी पापाचार से निवृत्ति व मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति अर्थ में ही महाव्रत वर्त रहे हैं ॥

तथा जैसे दया न करने रूप क्रूर गुणों में देवदत्त व अग्नि में गुण साम्यता होने पर भी अग्नि के दाहकता आदि अन्य गुणों से देवदत्त में साम्यता नहीं है ॥

उसी प्रकार यद्यपि पापाचार से निवृत्ति व मोक्षपुरुषार्थी अर्थ में आर्यिका माताओं व मुनिराजों में गुण साम्यता अवश्य है, किन्तु वही तद्भव मोक्ष के लिए कहे जाने वाले पुरुषलिंग आदि गुणों में साम्यता का अभाव है ॥

अर्थात् जैसा कि पूर्व में भी हमने सिद्ध किया था कि आर्यिका मातायें तद्भव मोक्ष पुरुषार्थ के योग्य पुरुष लिंग आदि सामग्री का अभाव होने से तद्भव मोक्ष के योग्य पुरुषार्थ से सर्वथा हीन हैं ॥

इसी को उपचार शब्द से विवक्षित किया जाता है ॥ इस प्रकार उपचार शब्द का अर्थ हुआ तद्भव मोक्ष पुरुषार्थ से हीन, किंतु परंपरा मोक्ष पुरुषार्थ की सामर्थ्य से युक्त ॥

ठीक ऐसा ही एक उदाहरण उपचार विशेषण की व्याख्या के अंतर्गत श्री राजवार्तिक जी में भट्टाकलंक देव ने भी प्रयोग किया है :-)अध्याय १, सूत्र १२)

सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे विशिष्ट तिर्यग्गति पंचेन्द्रिय जातिनखदंष्ट्रासटाटोप भासुरकपिलनयन तारकाध्वयव विशिष्टे अन्यत्र क्रौर्य शौर्यादिगुण साधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते ॥ न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति, तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते ॥

भावार्थ :- उपचार तब होता है जब मुख्य (वस्तु या गुण) स्वतंत्र भाव से प्रसिद्ध हो :- जैसे सिंह अपने शूरत्व क्रूरत्वादि गुणों से प्रसिद्ध है, तभी उसके सादृश्य से बालक में उसका उपचार किया जाता है ॥

तात्पर्य :-

उपरोक्त शेर व बालक के उदाहरण की तरह अग्नि व देवदत्त के उदाहरण में भी अग्नि का दया न करने रूप क्रूरता के गुण से समन्वित होना चाहिए। वह गुण होगा तभी सादृश्य अर्थात् ठीक उन्हीं अर्थों में उसकी तुलना देवदत्त की क्रूरता से हो सकती है ॥

अर्थात् :-

यह पूछे जाने पर कि देवदत्त की क्रूरता कैसी है? तो उत्तर होगा कि गुणों की अपेक्षा अग्नि

जैसी है ।। किंतु इस एक गुण साम्यता के कारण अग्नि के अन्य गुणों से वह तन्मय नहीं हो जाता ।।

उसी प्रकार :- यह पूछे जाने पर कि आर्यिका मात्रा के महाव्रत किनके समान हैं, तो उत्तर होगा मुनिराजों जैसे ही हैं ।।

अर्थात् जिस प्रकार महाव्रत पापाचार के अभाव व मोक्ष पुरुषार्थी अर्थ में मुनिराजों में प्राप्त होते हैं, ठीक उसी प्रकार आर्यिका माताओं में भी ये महाव्रत पापाचार के अभाव व मोक्ष पुरुषार्थी अर्थ में प्राप्त होते हैं ।।

किंतु इन महाव्रतों में साम्यता होने पर भी तद्भव मोक्ष के योग्य महाव्रत के साथ नियामक रूप से उपयोगी पुरुषलिंग आदि में साम्य नहीं हो जाता ।।

उनमें भिन्नता बनी रहती है ।।

उपरोक्त उदाहरण की सम्यक् सिद्धि के लिये मुनिकर्ा जयसेनाचार्य जी ने श्री आलाप पद्धति जी से लेकर एक सूत्र यहाँ उद्धृत किया है :-

मुख्य का अभाव होने पर प्रयोजन या निमित्त के वश से उपचार किया जाता है ।।

उनके द्वारा प्रयुक्त उपरोक्त अग्नि व देवदत्त के उदाहरण द्वारा इस सूत्र पर मनन करने पर न सिर्फ सूत्रार्थ सरल हो जाता है, अपितु आर्यिकायें महाव्रती होती हैं यह उपदेश भी सहजता से हृदयंगम हो जाता है ।।

वैसे यह अर्थ स्वयं आलाप पद्धतिकारजी को भी इष्ट है ।। क्योंकि इस सूत्र में प्रयुक्त प्रयोजन व निमित्त शब्द का अर्थ क्या है, यह पूछे जाने पर आचार्य देव सेन भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

''संबंधाविनाभावः''

अर्थ :- अविनाभावी संबंध को (प्रयोजन व निमित्त से ये दो शब्द) कहते हैं ।।

यह संबंध दो द्रव्यों में बतालाया जायेगा तब उदाहरण अग्नि की क्रूरता व देवदत्त की क्रूरता रूप गुण साम्यता (अविनाभावी) अर्थ में समझाया जायेगा ।।

व एक द्रव्य में समझाया जायेगा तब ''अग्नि आँनें जैसी उष्ण है'' गत्वाप्रत्यागत न्याय अनुसार समझाया जायेगा ।।

अर्थात्

दोनों उदाहरण गुणों की उपस्थिति को ही सिद्ध करने के अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं, अभाव की सिद्धि के लिये नहीं ।।

शंका :- किंतु सूत्र में 'मुख्याभावे'' अर्थात् मुख्य के अभाव में यह कहा है?

समाधान :- मुख्याभावे अर्थात् मुख्य के अभाव में का अर्थ देवदत्त में अग्निवत् क्रूरता तो है किंतु दाहकता नहीं उसी प्रकार आर्यिकाओं में महाव्रत तो हैं, किन्तु महाव्रतों का मुख्य कार्य तद्भव मोक्ष प्राप्ति का अभाव है ।।

क्योंकि यदि गुणों का ही अभाव मानोगे तो सिंह की शूरता की तुलना अर्थात् उपचार बालक मे कैसे करोगे ?

उपचार के लिये दोनों में गुण साम्यता होना आवश्यक है।.

शंका :- किंतु आगम वचन है कि प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के सद्भाव में महाव्रत वर्त नहीं सकते ?

समाधान :- वर्त ही नहीं सकते ऐसा न कहें, अपितु "आर्यिका माताओं पर आरोपण महाव्रतों का होता है" इसी उपदेश से सिद्ध होता है कि प्रत्याख्यानावरण कषाय का मंदोदय यहाँ विवक्षित महाव्रतों का समूल नाश करने में सामर्थ्यवान नहीं है, किंचित् असंयम के साथ यह इस कषाय के सद्भाव में भी पाया जाता है ॥

अर्थात् महाव्रतों की बहुतायत विशुद्धि इस प्रत्याख्यानावरण कषाय जनित किंचित् असंयम रूपी मल से समन्वित इस गुणस्थान में पाई जाती है ॥।

यदि नहीं पाई जाती तो तुलनात्मक उपचार का भी अभाव हो जाता ॥

उपचार का अभाव होते ही महाव्रत आरोपण का भी अभाव हो जाता ॥

क्योंकि पूर्व में सिद्ध किया ही जा चुका है कि सर्वथा अभाव में उपचार नहीं होता ॥

अर्थात् जिस प्रकार,

क्रूरता रूप गुण अग्नि की अपेक्षा यद्यपि देवदत्त में कम हो सकता है, किंतु उसका अभाव नहीं हो सकता,

शूरतादि रूप गुण सिंह की अपेक्षा बालक में कम हो सकते हैं, किन्तु उनका अभाव नहीं हो सकता ,

उसी प्रकार

महाव्रत जनित विशुद्धि आर्यिका माताओं में मुनिराजों की अपेक्षा (तुलनात्मक दृष्टि से)कम हो सकती है किंतु उसका अभाव नहीं हो सकता ॥

तात्पर्य तद्भव मोक्ष के योग्य मुख्य विशुद्धि का तो अभाव हो सकता है किन्तु उसी जाति की परम्परा मोक्ष को साधने वाली गौण विशुद्धि का नहीं॥

गौण का भी अभाव कर दोगे तो उपचार कैसे वर्त सकेगा ?

अर्थात् नहीं वर्त सकेगा ॥

तात्पर्य आर्यिका माताओं में तद्भव मोक्ष के योग्य मुख्य विशुद्धि का अभाव है किन्तु परम्परा मोक्ष के योग्य उसी जाति की गौण विशुद्धि का अभाव नहीं ॥

उसका स्वामित्व तो होगा ही होगा॥

अर्थात् (प्रतिशत की तारतम्यता होने पर भी (गुण साम्यता में ही उपचार वर्तता है, अभाव में कदापि नहीं ॥

अतः सिद्ध हुआ कि पंचम गुणस्थानवर्ती आर्यिका माताओं के भी महाव्रत जनित स्वयोग्य विशुद्धि वर्तती है ॥

इसी अर्थ को स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा उपयोग किये गये प्रमाणों में आचार्य भगवन्त स्वयं सज्जाति शब्द से कह रहे हैं :-

शंका :- महाव्रतों का उपचार आप क्यों कर रहे हैं ?

समाधान :- आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि सज्जाति की ज्ञप्ति अथवा कुल व्यवस्था के निमित्त।

अर्थात् इस उपचार के द्वारा आचार्य भगवंत इनकी जाति का बोध करवा रहे हैं,

अर्थात् आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि ये महाव्रतियों की ही जाति की हैं, इस सूत्र का बोध कराने के लिए इन पर महाव्रतों का आरोपण किया जाता है ॥

कोई इन्हें पंचम गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषायके सद्भाव के कारण श्रावक या श्राविकाओं में न गिन ले, इस तथ्य की ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान कराने के लिये ही यह उपचार किया गया है ॥

स्वयं सज्जाति शब्द भी यही कह रहा है ॥

सज्जाति में जाति शब्द एक ही गुण से मंडित द्रव्यों के समूह को कहता है ॥

इस जाति शब्द में सत् उपसर्ग है ॥

इसका अर्थ उत्तम होता है ॥

जैसे सज्जन, सत्पुरुष, सत्पात्र आदि ॥

उसी प्रकार सज्जाति का अर्थ होता है उत्तम जाति ॥

अर्थात् इनकी जाति उत्तम गुणों से मंडित साधु पुरुषों की है, इसकी ज्ञप्ति के लिये ये आर्यिकायें महाव्रत संस्कारों से संस्कारित की गयी हैं ॥

अथवा जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य जी कह रहे हैं कि कुल व्यवस्था के निमित्त अर्थात् ये किस कुल की हैं इस का बोध कराने के लिये महाव्रतों के संस्कार दिये गये हैं यदि ये उत्तम श्राविकाओं के कुल की होती तो नियम से इन पर संस्कार ग्यारह प्रतिमाओं के ही दिये जाते, महाव्रतों के नहीं ॥

किंतु संस्कार ग्यारह प्रतिमाओं के तो दिये ही नहीं गये, महाव्रतों के दिये गये, अतः जिनके संस्कार इन परआरोपित हैं,ये उन्हीं की जाति की हैं, अन्य की नहीं ॥

शंका :- किंतु यदि जैसा आप कह रहे है, वैसा ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाये तो तृतीय सामायिक प्रतिमाधारी को भी आचार्यों ने उपचार से महाव्रती कहा हैं, तो क्या उन्हें भी....?

समाधान :- वैसे यह शंका आदरणीय बैनाड़ा जी ने चर्चा नं, ५ में क्या आगम में....के अंतर्गत उठायी है ॥

इसी शंका के आश्रय से वे यह सिद्ध कर रहे हैं कि :- कोई उपचार से महाव्रती मानकर आर्यिकाओं को (मुनिराज के तुल्य) पूजा के योग्य कहते हैं, जो कथन उचित नहीं है, क्योंकि उपचार से महाव्रत तो आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावक के भी कहा है, जो निम्न प्रमाणों से स्पष्ट हैं ॥

(इसके पश्चात द्वितीय प्रतिमाधारी सामायिक शिक्षा व्रती श्रावक के उपचार महाव्रत बतलाने वाले रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ६ ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं ॥)

एक बार पुनः हम पूर्व में कह चुके अपने वाक्य को दोहराते हैं :-

जैनाचार्यों ने जितने भी कथन किये है विवक्षापूर्वक ही किये हैं, विवक्षाहीन नहीं ॥

विवक्षा पारंगतता के अभाव में **''कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा''** वाली कहावत चरितार्थ होती है ॥

आदरणीय बैनाड़ा जी के साथ भी यही बारम्बार हो रहा है ॥

ये सामायिक शिक्षाव्रती को उपचार महाव्रती कहने में व आर्यिका माताओं को उपचार महाव्रती कहने में पात्रगत् स्पष्ट भेद होने के बाद भी, दोनों में अंतर नहीं कर पाये और अपने इस भ्रमवश अन्यों के भी भ्रम का कारण बने ॥

आइये चिंतवन करें ॥

इस विषय के अर्थ में प्रवेश करने के पूर्व सर्वप्रथम हम यहाँ स्पष्ट कर दें कि :-

सामायिक शिक्षाव्रती को उपचार महाव्रती स्वीकार कर लेने में हमें कोई बाधा नहीं है ॥

अरे भाई !! जब आचार्य भगवंत ही इसकी प्ररूपणा कर रहे हैं तब फिर हमें बाधा क्यों कर होगी ?

और रत्नत्रय से मंडित आचार्यों की ही जब यह निष्कर्षात्मक प्ररूपणा है, तब फिर उनसे बड़े हम कौन होते हैं जो यह कहने का दुःसाहस स्वप्न में भी करें कि नहीं, सामायिक शिक्षाव्रती में उपचार महाव्रत व उसके फल नहीं होते ?

अकेले सामायिक शिक्षाव्रती को नहीं अपितु हम तो तृतीय प्रतिमा से लेकर ग्यारह प्रतिमाधारियों तक, सभी सामायिक में स्थित संयमासंयमियों को उपचार महाव्रती करने को राजी हैं ॥

वह इसलिये कि सामायिक शिक्षाव्रती तो आदि दीपक है,

यहाँ से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक के सभी सत्पात्र सामायिक व्रत से मंडित हैं, रहित नहीं ॥

अतः यह विशेषण द्वितीय प्रतिमा से लेकर आगे ग्यारहवीं प्रतिमा तक समान रूप से प्रयुक्त होगा ॥

कृपया स्मरण में रखें कि हम इनके उपचार महाव्रतों का निषेध नहीं कर रहे हैं, हम तो सिर्फ दोनों पात्रों को समान विशेषण देने के उपरान्त भी आचार्यों की विवक्षा पर आपका ध्यान आकृष्ट करवाना चाह रहे हैं ॥

अब आइये दोनों पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन करें :-

१) आर्यिका माताओं के पास यह महाव्रत सर्वकालिक है ॥

सामायिक शिक्षा व्रतियों के पास मात्र सामायिक काल में ॥

२) आर्यिका माताओं पर इन महाव्रतों के संस्कार स्वयं आचार्य भगवंतों अथवा गणिनी आर्यिका माताओं द्वारा आरोपित होते हैं, जिसे दीक्षा कहते हैं ॥

सामायिक शिक्षाव्रती पर ना तो इन महाव्रतों के संस्कार ही होते हैं और ना ही वे उपचार महाव्रती रूप दीक्षित हैं।

३) इन व्रतों का आर्यिका माताओं ने अभिसंधि अर्थात् अभिप्राय पूर्वक ग्रहण किये हैं, जिन्हें कि वे समिति पूर्वक पालती हैं, अतः वे साक्षात् उपचार महाव्रती ही हैं ॥

सामायिक शिक्षाव्रती ने अभिसंधि अर्थात् अभिप्राय पूर्वक इन उपचार महाव्रतों को धारण नहीं किया है अतः वे उपचार महाव्रती नहीं हैं, अपितु उपचार महाव्रतों का भी उपचार उनके हैं ॥

और अब अंतिम :-

४) आर्यिका माताओं का यह उपचार महाव्रत रूप सवस्त्र लिंग अंतरंग निर्विकार स्वसंवेदन भावलिंग का सहकारी कारण है ॥

जबकि शिक्षाव्रती का उपचार महाव्रत अंतरंग निर्विकार भावलिंग का साधन नहीं होने से द्रव्य मात्र है। उसके पास बाह्य उपचार महाव्रतत्व तो है किंतु उनका फल अंतरंग निर्विकार स्वसंवेदनरूप भावलिंग नही॥ अतः उसे उपचार महाव्रती द्रव्य मात्र में कहा गया है, द्रव्य लिंगी वत्॥

आर्यिका माताओं की तरह भावलिंगी रूप नहीं॥

स्वयं अकलंक देव इनकी तुलना श्री राजवार्तिक जी अध्याय ७ सूत्र २१ वार्तिक २५ में अपने द्रव्य महाव्रतों से नवग्रैवेयक की सिद्धि करने वाले द्रव्यलिंगी अभव्यों से करते हैं :-

"हिंसादिषु बाह्येषु सर्वेषु अनासक्तधिषणः अभ्यन्तर संयम घातिकर्मोदया पादितमन्दा-विरति परिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यते ॥ एवं कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रंथलिंगधारिणः एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालना देशसंयतासंयतभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमान-वासितोऽपिपन्ना भवति ॥

अर्थ :- हिंसादि सर्व बाह्य व्यापारों (क्रियाओं (में अनासक्त बुद्धि वाला अभ्यंतर संयम के घातक कर्मोदय से संपादित (अर्थात् अभिसंधी पूर्वक उपचार महाव्रत तक ग्रहण करने की बुद्धि से हीन) सामायिक व्रती सामायिक काल में उपचार से महाव्रती कहा जाता है ॥

इसीलिए एकादशांगपाठी निर्ग्रंथ लिंगधारी, अभव्य के भी महाव्रत पालन करने के कारण देशसंयत भाव व संयतभाव नहीं होने पर भी ऊपरीम ग्रैवेयक तक उत्पत्ति बन जाती है।

अतः अंतरंग उपचार महाव्रत संस्कार से हीन यत्र शिक्षा व्रती उपचार से द्रव्य महाव्रती होता है, भावलिंगी नहीं ॥

यही कारण है कि इन्हें उपचार महाव्रती तो कहा किंतु सज्जाति शब्द से मुनियों की जाति का नहीं कहा ॥

अतः द्रव्यलिंगियों का एकान्त कर भावलिंगियों पर आक्षेप अथवा भावलिंगियों का निषेध नहीं किया जा सकता ॥

और जो करते हैं वे न्याय व निक्षेपादि पारंगतता के अभाव में स्वयं भ्रम में रहते हैं व दूसरों के भ्रम का कारण बनते हैं ॥

शंका :- किंतु ये आर्यिका मातायें तो पंचम गुणस्थानवर्ती है ॥ इनकी जाति छट्ठे गुणस्थानवर्ती अनगार जातियों की जाति कैसे कही जा सकती है ?

समाधान :- इस विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। स्वयं आचार्य भगवंतों ने कहा कि सज्जाति की ज्ञप्ति के लिए महाव्रतों का आरोपण होता है ॥

क्या महाव्रतों का आरोपण उत्तम श्रावक या श्राविका की जाति का ज्ञापक अर्थात् ज्ञान कराने वाला हो सकता है?

कदापि नहीं ॥

अतः ये संयमासंयम गुणस्थान में स्थित, महाव्रतियों से किंचित् न्यून होते हुए भी महाव्रतियों की सी विशुद्धि से सम्पन्न महाव्रतियों की ही जाति की हैं ॥

यदि ये महाव्रतों की विशुद्धि से सम्पन्न नहीं होती तो स्वयं भगवान कुंदकुंदाचार्य जी श्री प्रवचन सार जी में श्री मूलाचार आदि में वर्णित मुनियों का आचार आचरने का विधान इनके लिये नहीं बनाते ॥

किन्तु नहीं, उन्होंने स्वयं मुनियों का विधान ही इनके लिये भी कहा ॥ वैसे यह गाथा पूर्व में कही जा चुकी है, किंतु फिर भी प्रकरणानुसार पुनः कहते हैं :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी **ग्रंथकार : मुनिवर्य कुंदकुंदाचार्य जी** **गाथा : २२४/९**

(गाथा का उत्तरार्द्ध)

कुलरूववओजुत्तो समणीओ तस्समाचारा ॥

अर्थ :- कुल रूप वय सहित जो उनके आचरण आचार शास्त्र (श्री मूलाचार आदि) ग्रंथों में प्ररूपित है उसे आचरने वाली श्रमणी अर्थात् आर्यिकायें होती हैं ॥

अब आइये देखे श्री मूलाचार जी में इनके योग्य आचरण कौनसा कहा गया है :-

ग्रंथ : श्री मूलाचार जी **ग्रंथकार : आचार्य वट्टकेरजी** **गाथा : १८७ (समाचार अधिकार)**

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं ।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥

अर्थ :- पूर्व में जैसा (मुनियों के लिए कहा गया है) वैसा ही यह समाचार (सम्यक् आचार महाव्रत) आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र यथायोग्य करना चाहिये ॥

तात्पर्य :- संयम पालनार्थ व विशुद्धि की वृद्धि के लिये जो चर्या मुनिराजों के लिये कही गयी है अर्थात् जो चर्या मुनिराजों की है वही आर्यिका माताओं की है ॥

और जाति शब्द का अर्थ होता है समान चर्या अथवा गुणवालों का समूह ॥

अब पाठक गण ही निर्णय करें कि इनके गुण व चर्या किस गुण व चर्या वाले समूह से मेल खाती हैं :-

१) क्या समान आचरण वाले मुनियों के समूह के साथ ?

या

२) असमान आचरण वाले हम श्रावकों के साथ

निश्चित ही जाति शब्द के अर्थ की विवक्षा के अनुसार तो ये मुनियों के ही समूह अर्थात् कुल अर्थात् जाति की ही हैं,

अथवा

क्या आचार शास्त्रों में निहित आचरणों को पालने का निर्देश असंयमियों के लिये हो सकता है?

और जब आचार शास्त्र निहित आचरणों को पालने का निर्देश असंयमियों के लिये हो ही नहीं सकता, फिर ये असंयमी कैसे ? संयमी ही क्यों नहीं ?

पुनः,

क्या असंयमियों के लिये भी श्री मूलाचार आदि की तरह आचार्यों ने पृथक् आचार शास्त्र कहा है ?

नहीं कहा ॥

यदि नहीं कहा तो फिर इन मूलाचार आदि आचार शास्त्रों में कहा समाचार पालने वाली आर्यिका मातायें असंयमी कैसे ?

अर्थात् यह संभव ही नहीं ॥

आचार शास्त्र निहित उनका संयम परिणाम किंचित असंयम परिणाम कृत मलों से मलिन अवश्य है,

किंतु सर्वथा महाव्रतों के अभाव रूप नहीं है ॥

और जैसा कि पूर्व में हम बता चुके हैं कि आर्यिका माताओं का वस्त्र संबंधी असंयम परिणाम भी संयमाचरण पूर्वक ही है, हम श्रावकों की तरह सर्वथा यद्वातद्वा आचरण रूप (अनर्गल वृत्ति मय) नहीं है ॥

जिनके पास असंयम भी संयम की मर्यादाओं में है, उनका संयम कितना विशिष्ट होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ॥

अतः आर्यिका मातायें न सिर्फ दीक्षित हैं, अपितु संयमियों की ही जाति की होते हुये पूजनीय संयमांशों की भी स्वामिनी है ॥

इन्हें अदीक्षित/असंयमी कहना श्रुत-अवर्णवाद के अलावा अन्य कुछ भी नहीं ॥

यहाँ तक प्रकरण हमने आर्यिका माताओं की अदीक्षा कहा किंतु अब क्षुल्लक-ऐलकजी की भी दीक्षा ही होती है का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : मुनि जयसेनाचार्य जी गाथा : २२४-१० (टीका)

उत्थानिका :-

अथेदानीं पुरुषाणां दीक्षा ग्रहण वर्णव्यवस्था कथयति :-

टीका :-

एवं गुण विशिष्ट-पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणेयोग्यो भवति ॥ यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि ॥

अर्थ :-

(उत्थानिका):- आगे कहते हैं कि जो पुरुष दीक्षा लेते है उनकी वर्ण व्यवस्था क्या होती है?

टीका :- (पूर्व में कहा गया) ऐसा गुणधारी पुरुष जिन दीक्षा ग्रहण के योग्य होता है ॥ तथा सत् शूद्र आदि भी यथायोग्य (क्षुल्लकादि की) जिन दीक्षा ले सकते हैं ॥

अर्थात् :-

जिनागम में मात्र मुनिदीक्षा का ही प्रावधान नहीं है, अपितु तीन दीक्षाओं का प्रावधान है :-

१) मुनि दीक्षा

२) आर्यिका दीक्षा

३) ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका दीक्षा

यदि ऐसा नहीं होता तो जैन दर्शन में आचार्य कुंदकुंद स्वामी तीन लिंगों का वर्णन ही नहीं करते व यह वाक्य भी उनसे नहीं बनता कि चौथा लिंग नही होता ॥

और हम यह पूर्व में ही सिद्ध कर चुके हैं कि दीक्षा का अर्थ दीक्षा दाता गुरु से लिंग ग्रहण करना है ॥

अतः दीक्षा गुरु से जिनने भी इन तीनों में से किसी भी लिंग का ग्रहण किया है वे दीक्षितों में ही परिगणित हैं ॥ इनमें से किसी एक को भी अदीक्षित कहना श्रुत अवर्णवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उपचार महाव्रतों के संस्कारों से संस्कारित आर्यिका मातायें मात्र संयमी नहीं, अपितु दीक्षित भी है ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ३ (उत्तरार्द्ध)

यहाँ, इस चर्चा के अंतिम गद्यांशों में प्रिय बैनाड़ा जी कह रहे हैं कि :-

आर्यिकाओं के संपूर्ण २८ मूलगुण ही नहीं होते :-

१) उनके वस्त्र धारण करने के कारण स्पर्शन इंद्रिय जय, अपरिग्रह महाव्रत, तथा नग्नत्व ये तीन मूलगुण नहीं होते ॥

२) बैठकर आहार लेने से एक मूलगुण नहीं होता ॥

३) मासिक स्राव होने से तथा अंगों से सम्मूर्छन मनुष्यों की हिंसा होने से अहिंसा महाव्रत नहीं होता ॥

४) मासिक धर्म के उपरांत स्नान से ही शुद्धि होती है, अतः इनके अस्नान मूलगुण भी अखंड नहीं पलता ॥

उपरोक्त तर्कों के पश्चात् बैनाड़ा जी निष्कर्ष दे रहे हैं कि मूलगुण ही जब पूरे नहीं हैं, तो उनको मुनियों के समान कैसे माना जा सकता है ?

अर्थात् नहीं माना जा सकता ॥

समाधान :- प्रिय बैनाड़ा जी, कृपया भूल सुधार लें कि ना तो हम श्रावकों ने कभी कहा है कि वे मुनियों के समान (मुनि अर्थ में) हैं और ना ही कहीं किन्हीं शास्त्रकारों के ही ऐसे वचन हैं कि वे मुनि हैं ॥

यदि उपरोक्त दूषण (मल अर्थ में) आर्यिका माताओं के नहीं होते तो इन्हें उपचार महाव्रती क्यों कहा जाता ? साक्षात् महाव्रती ही नहीं कहा जाता क्या ?

किन्तु नहीं कहा गया ॥

तात्पर्य ऊपर कहे गये दोष हमें भी मान्य हैं ॥

यदि मान्य नहीं करेंगे तो उपचार विशेषण ही व्यर्थ ठहरेगा ॥

अतः उपचार विशेषण को स्मृति में रखते हुये, आपके द्वारा उठाये गये दोषों की समीक्षा करने का प्रयास करते हैं कि उपरोक्त मलों के रहते हुये आर्यिका मातायें महाव्रतों की स्वामिनी हो सकती है या नहीं ?

बैनाड़ा जी द्वारा आरोपित प्रथम दोष :- नग्नत्व, अपरिग्रह और स्पर्शन इंद्रिय जय ये तीन मूलगुण वस्त्र धारण करने से आर्यिका माताओं के नहीं होते ॥

समाधान :- विषय प्रारंभ के पूर्व बैनाड़ा जी के निष्कर्षात्मक वक्तव्यों की समीक्षा आवश्यक है ॥

अतः समीक्षा पूर्वक इस दोष पर चिंतवन मनन करते हैं :-

वे कहते हैं "आर्यिका माताओं के २८ मूलगुण संपूर्ण नहीं होते"

अब प्रश्न यह उठता है कि २८ मूलगुण संपूर्ण नहीं होते इस पद के अर्थ क्या है :-

१) अपूर्ण (अभाव अर्थ में) होते हैं यह,

या

२) संपूर्णापूर्ण ऐसे मिश्र होते हैं यह ?

सर्वथा अपूर्ण (अभावात्मक) तो कह नहीं सकते, क्योंकि उनके द्वारा उठाये दोष उन-उन मूलगुणों के एक देश में ही वास करते हैं, सर्वदेश में नहीं ॥

जब सर्वदेश में वास नहीं करते, तब २८ मूलगुण होते ही नहीं, यह विधान तो बन ही नहीं सकता ॥

और जैसा कि हमने पूर्व में ही सिद्ध किया है कि इनके मूलगुण प्रत्याख्यानावरण कषाय कृत किंचित् असंयम से मलिन हैं,

और यह मलिनता स्वयं जिनेन्द्र भगवान को भी इष्ट हैं ॥

यदि नहीं होती तो २८ मूलगुण पूर्वक सावरण लिंग का निर्देश इनके लिये किया ही नहीं जा सकता था ॥

किंतु किया गया ॥

इसी से सिद्ध होता है मुनिराजों के मूलगुण यद्यपि छट्ठे गुणस्थान में प्रमाद व आगे १० वें गुणस्थान तक कषाय से मलिन हैं, किंतु प्रत्याख्यानावरण कषाय कृत किंचित् असंयम से मलिन न होने से निर्मल कह गये हैं और आर्यिका माताओं के इसी किंचित् असंयम से मलिन होने के कारण समल ॥

समल होने से ही उपचरित है, अभाव रूप नहीं ॥

अर्थात् मल के सद्भाव में भी वे आचार्यों द्वारा आरोपित २८ मूलगुणों से मंडित है, रहित नहीं ॥

"उनके कुछ मूलगुण ही नहीं होते" यह कहन पुनः अवर्णवाद का ही कारण बनेगा, सम्यक् ज्ञान का नहीं ॥

आगे बैनाड़ा जी कहते हैं आर्यिका माताओं के नग्नत्व मूलगुण नहीं हैं ॥

परिपत्रक को येन केन प्रकारेण पूर्ण करने की धुन में शायद बैनाड़ा जी भूल ही गये कि उनके द्वारा बार-बार प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये गये ग्रंथों में ही स्वयं जिनेन्द्र भगवान द्वारा अचेलक अर्थात् अनावरण लिंग के स्थान पर सआवरण लिंग का विधान इनके लिये किया गया हैं ॥

अर्थात् आचार्यों को स्त्रियों पर महाव्रतों के संस्कार सावरण ही इष्ट है, निरावरण नहीं ॥

याद रखिये यह विधान आचार्यों की ओर से है, आर्यिका माताओं की ओर से नहीं ॥

आर्यिका माताओं को निर्ग्रंथ दीक्षा में कोई आपत्ति नहीं है, आज शास्त्र आज्ञा देवे, तो वे आज निर्ग्रंथ दीक्षा लेने को राजी हैं। उनकी देह पर वस्त्र मूर्च्छा के कारण नहीं, शास्त्र आज्ञा के कारण हैं ॥

ग्रंथ : श्री प्रमेयकमल मार्तण्ड जी ग्रंथकार : श्रीमद् प्रभाचन्द्राचार्य जी अध्याय : ८

(पांचवा अनुच्छेद)

न च प्रवचनाभावेऽपि मोक्षसुखकांक्षया तासां वस्त्र त्यागो युक्तः, अर्हत्प्रणीताग-मोल्लंघनेन मिथ्यात्वाराधनाप्राप्तेः ॥

अर्थ :- और न ही शास्त्र में वस्त्र रहित संयम स्त्रियों को बतलाया है, तो भी मोक्षसुख की अभिलाषिणी स्त्रियाँ वस्त्र का त्याग करेंगी तो गलत क्रिया कहलायेंगी क्योंकि अर्हंत भगवान के शास्त्र का उल्लंघन करने से मिथ्यात्व की आराधना को प्राप्त होती हैं ॥

जैसा कि यहाँ कहा गया हैं मोक्षसुख की अभिलाषिणी स्त्रियाँ और पूर्व में भी कहा गया था कि सम्यग्दर्शन से शुद्ध, ग्यारह अंग तक के ज्ञान से सम्पन्न घोर चरित्र को आचरती मोक्षाभिलाषी आर्यिका माताओं के द्रव्य स्त्री लिंग का सद्भाव होने से उसी जन्म से सर्व कर्मों की निर्जरा का अभाव है, अतः परंपरा मोक्ष की प्ररूपक व एक देश गुणश्रेणी निर्जरा की हेतु सग्रंथ लिंग की प्ररूपणा जिनेन्द्र भगवान ने इनके लिए की है।

अर्थात् सर्व सावद्य त्याग रूप समस्त गृह व गृहस्थ संबंधी आरंभ, परिग्रहादि पापाचारों से रहित आर्यिका माताओं की देह पर वस्त्र तीर्थंकर भगवान की ही प्ररूपणा है, मूर्छा परिणाम से ग्रहण किया गया यह अनाचार नहीं है,

क्योंकि उन्हें प्रयोजन मोक्ष से है, बाह्य लिंग से नहीं ॥

और चूंकि यह वस्त्र ग्रहण अनाचार नहीं है, इसीलिए शास्त्रकारों ने १६ हाथ की साड़ी धारी इन्हीं आर्यिका माताओं को ना सिर्फ उपचार महाव्रती कहा, अपितु पंच महाव्रतके संस्कार भी दिये जब कि मात्र कोपीन धारी ऐलक महाराज को ग्यारहवीं प्रतिमा के संस्कार, क्योंकि :-

आर्यिका माताओं के तो आगम आज्ञा होने से मूर्छा रहित (उपेक्षा भाव से प्रत्याख्यान कषाय कृत अतिचार रूप किंचित् असंयम परिणाम से मिश्रित जो कि विवक्षाधीन अर्थात् मात्र केवली गम्य है) साड़ी का ग्रहण है, जबकि ऐलक महाराज के वस्त्र त्यागने का मार्ग प्रशस्त होने पर भी वे अंतिम कोपीन का त्याग नहीं कर पा रहे हैं ॥

शास्त्रकार कहते हैं कि निर्ग्रन्थ मार्ग प्रशस्त होने पर भी यदि समस्त गृह व गृह संबंधी आरंभ-परिग्रह एवं पापाचार से निवृत्त हो जाने पर भी यदि अंतिम कोपीन नहीं त्याग पा रहे हैं तो इसका सीधा सा अर्थ है कि वे कोपीन संबंधी सूक्ष्म नहीं स्थूल मूर्च्छा से संयुक्त हैं ॥

स्थूल मूर्च्छा से संयुक्त हैं इसीलिये ग्यारह प्रतिमा के संस्कार दिये महाव्रतों के नहीं ॥

ग्रंथ : श्री सागार धर्मामृतजी ग्रंथकार : पंडितप्रवर आशाधरजी अध्याय : ८ श्लोक ३६

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति ॥

अर्थ :- (ऐलक व क्षुल्लकों में) कोपीन मात्र में मूर्च्छा होने से वे महाव्रत के योग्य नहीं है और आर्यिका माताओं में १६ हाथ की साड़ी में मूर्च्छा नहीं होने से महाव्रत के योग्य आचार्यों द्वारा कही गयी है ॥

यही नहीं सल्लेखना काल में आर्यिका माताओं को भी नग्न होने की अनुमति आचार्य भगवंतों ने दी है :-

ग्रंथ : श्री भगवती आराधना जी ग्रंथकार : आचार्य शिवार्य गाथा : ८०,८१

अच्चेलकं लोचो वो सट्ठमरीरदा य पडिलिंहणं ।
एसो ही लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥
इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं पारित्तमुवधिं करेंतीए ॥

अर्थ :- वस्त्रों का त्याग अर्थात् नग्नता, लोंच (हाथ से केश उखाड़ना), शरीर पर से ममत्व दूर करना, प्रतिलेखन अर्थात् प्राणी दया की चिह्न मयूर पिच्छीका हाथ में ग्रहण, इस तरह चार प्रकार का औत्सर्गिक लिंग है ॥

परमागम में स्त्रियों अर्थात् प्रव्रजित आर्यिकाओं का जो (ऊपर नग्नत्व आदि द्वारा कहा गया) उत्सर्ग लिंग व अपवाद लिंग कहा गया है, वही लिंग भक्तप्रत्याख्यान (सल्लेखना) के समय समझना चाहिये ॥ अर्थात् आर्यिकाओं को भक्तप्रत्याख्यान के समय उत्सर्ग लिंग विविक्त स्थान में होना चाहिये अर्थात् वह भी मुनिवत् नग्न लिंग धारण कर सकती है, ऐसी आगम आज्ञा है ॥

ग्रन्थ : श्री सागार धर्मामृत जी ग्रन्थकार : पंडित प्रवर आशाधर जी अध्याय : ८/३८

यद्वौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः ।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पकृतोपधेः ॥

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान ने जो औत्सर्गिक अथवा आपवादिक आदि लिंग कहे हैं वह सब मरण के समय में स्वल्प किया है परिग्रह जिन्होंने ऐसी स्त्रियों के भी पुरुषों के समान माना गया है ॥

अर्थात् मरण काल में स्त्रियाँ भी ओत्सर्गिक लिंग रूप नग्न रह सकती हैं ॥

अतः आपका यह कहना कि उनके नग्नत्व मूलगुण ही नहीं होता, मिथ्यावचन है ॥

वस्तुतः यह कहना चाहिये कि मूर्छा के अभाव में उनके वस्त्र ग्रहण करने पर भी उपचार नग्नत्व है ॥

उनके पास उपचार नग्नत्व रूप में यह मूलगुण संग्रहीत है ॥

मात्र संग्रहीत नहीं है, अपितु शास्त्र आज्ञानुसार उनपर आचार्यों द्वारा संस्कारित भी है ॥

इसी प्रमाण से यह भी सिद्ध हो जाता है, कि उनकी मूर्छा रहितता के कारण संयमाचरण पूर्वक वस्त्र ग्रहण करने से सर्वथा परिग्रह का दूषण न लगकर उपचार अपरिग्रहत्व की भी सिद्धि होती है, व और तो और वस्त्रावरण सहित होने पर भी वे स्पर्शन इंद्रिय जयी भी हैं क्योंकि वस्त्रावरण सहितों के स्पर्शन इंद्रिय संबंधी उपसर्ग या परीषह नहीं होते ऐसा विधान ही नहीं हैं ॥

यदि परीषह जय गुणकर मंडित ये ना हों तो स्वयं कुंदकुंदाचार्य जी इनके लिये कभी नहीं कहते कि :-

''घोरं चरदि य चरियं''

अर्थात् :- घोर चारित्र को आचरती ॥

घोर शब्द का अर्थ होता है अतिचारों को निवारती, उपवासादि तपों से संयुक्त व परीषहों को जीतती ॥

अतः निष्कर्ष यहाँ होना चाहिये कि :-

आर्यिका माताओं के पास उपचार नग्नत्व, उपचार अपरिग्रहत्व व उपचार स्पर्शन इंद्रिय जय तीनों ही मूलगुण हैं ॥

और याद रखिये कि जिन मुनियों के तद्भव मोक्ष नहीं है, उनके भी अर्थात् शेष पाँच संहननधारियों के निर्ग्रंथ विशेषण उपचार से है, परमार्थ से नहीं ॥

क्योंकि उनके भी उपकरण रूप पिच्छी कमण्डल आदि का सद्भाव होता है ॥

परम निर्ग्रन्थता अर्थात् साक्षात् निर्ग्रंथों के तो उपकरणों का भी अभाव होता है ॥

ग्रंथ : श्री प्रमेयकमलमार्तण्डजी ग्रंथकार : श्रीमद्प्रभाचन्द्राचार्यजी अध्याय : ८

(११ वां परिच्छेद)

परमनैर्ग्रंथ्य सिद्धयर्थं पिच्छस्याप्य ग्रहणाचौषधवत् ॥

अर्थ :- दूसरी बात यह है कि परम निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिये तो महाश्रमण पिच्छी भी ग्रहण नहीं करते हैं, जिस प्रकार की औषधि का ग्रहण नहीं करते हैं ॥

अर्थात् जिस प्रकार पिच्छी कमण्डल अपर निर्ग्रंथों के पास उपधि रूप आगम आज्ञा से है, उसी प्रकार वस्त्र भी उपचार महाव्रती आर्यिका माताओं के पास जिनेन्द्र भगवान के द्वारा स्त्रीलिंग की प्ररूपणा के अनुसार है। उनका आर्यिका लिंग महाव्रतपूर्वक ऐसा ही निरूपित किया गया है, अन्य प्रकार नहीं ॥

अतः वस्त्रों का एकान्त कर उनके महाव्रतों का निषेध बन ही नहीं सकता ॥ उपरोक्त दोनों

प्रकार के मुनियों में परमसंयमी महाश्रमणों को सिद्धांत में उपेक्षा संयमी व उपधि सहित अपर संयमी श्रमणों को अपहृत संयमी कहा गया है ॥

द्वितीय दोष :- दूसरा आरोप बैनाड़ा जी लगा रहे हैं कि :-

''बैठकर आहार लेने से एक मूलगुण (ठिंदि भोजन) नहीं होता'' ॥

समाधान :- प्रिय बैनाड़ा जी, आपकी जानकारी के लिये बतला दूँ कि इस ठिदि भोजन मूलगुण में ५ विषय विचारणीय होते हैं :- (यह मूलगुण एषणा समिति पूर्वक होता है)

१) एक ही स्थान पर भोजन करना

२) खड़े-खड़े भोजन करना।

३) पाणिपात्र में भोजन करना

४) मौन पूर्वक आहार करना।

५) आहार शास्त्र निरूपित भोजन करना।

अर्थात् ४६ दोष टालकर भोजन करना ॥

उपरोक्त ठिदि भोजन के ५ भेदों में से ४ भेद आर्यिका माताओं के पास मुनिवत् हैं, मात्र द्वितीय भेद खड़े-खड़े भोजन करने के स्थान पर बैठे-बैठे भोजन करना उनसे भिन्न है ॥ इस प्रकार ५ भेदों में से महत्वपूर्ण ४ भेदों की पूर्ण स्वामिनी होने से ठिदि भोजन मूलगुण के आत्यन्तिक सामीप्यता के कारण उन पर पुनः इस मूलगुण का आरोपण है ॥ यह दोष शक्ति में हीनता आदि के कारण स्वीकृत है, प्रमाद के कारण नहीं ॥

चूँकि प्रमाद के कारण नहीं है इसीलिये इन पर उपचार ठिदि भोजन मूलगुण रूप से आरोपित है, अभाव रूप नहीं है ॥

वैसे आपकी सुविधा के लिये बतला दूँ कि इस मूलगुण का मुख्य दूषण सदोष स्थान पर सदोष आहार लेना है, शेष दूषण तो गौण दूषण है ॥ अतः आर्यिका मातायें मुख्य दूषण से रहित होने से ही इस मूलगुण से मंडित हैं ॥

तृतीय दोष :- तीसरा आरोप बैनाड़ा जी का है कि :-

''उनके गुप्तांगों में सम्मूर्छन मनुष्यादि जीवों की हिंसा मासिक स्राव आदि कारणों से होती है, अतः अहिंसा महाव्रत नहीं है।''

आश्चर्य होता है कि तत्वार्थ सूत्र आदि सिद्धांत ग्रंथों के स्वाध्यायी होने के पश्चात् भी पता नहीं किस व्यामोह के कारण बैनाड़ा जी यह आरोप संपूर्ण स्त्री-जाति पर लगा रहे हैं ॥

अरे भाई !! हिंसा की परिभाषा है :-

ग्रंथ : श्री तत्वार्थसूत्रजी ग्रंथकार : आचार्य उमास्वामी अध्याय : ७/१३

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥

अर्थ :- प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है ॥

आर्यिका माताओं पर आपके द्वारा दिया गया हिंसा का आरोप क्या प्रमत्त योग से है या अशक्यानुष्ठान रूप से ?

यदि प्रमत्त योग के कारण है तो फिर पंचम गुणस्थान ही नहीं बन सकेगा, क्योंकि फिर यह हिंसा न तो आरंभी हिंसा में गर्भित होगी, न उद्योगी में, ना ही विरोधी में और न ही प्रयोजन भूत संकल्पी स्थावर हिंसा में, इस प्रकार संकल्पी त्रस हिंसा के अंतर्गत इस हिंसा का पारिशेष्य न्यायापेक्षा अंतर्भाव हो जाने से न सिर्फ आर्यिका माताओं के, अपितु समस्त स्त्री जाति के ही पंचम संयमासंयम गुणस्थान का अभाव हो जायेगा ॥

किंतु इनके पंचम गुणस्थान तो होता ही है और आर्यिका माता तो पंचम गुणस्थानवर्ती होने पर भी पंचम गुणस्थान में विशेष हैं, क्योंकि उन पर महाव्रतों का आरोपण हैं, अतः प्रमत्त योग से तो यह दूषण हो नहीं सकता ॥

और चूँकि यह दूषण अशक्यानुष्ठान रूप से है, अतः इसके दूषण काल में होने वाली देह व चित्त की मलिनता की शुद्धि प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त रूप त्रिदिवसीय विधान के अनुसार सिद्धांत में कही ही गयी है ॥

अतः उपरोक्त तथाकथित हिंसा में प्रमाद का अभाव होने के कारण यह आरोप ही नहीं बनता कि इनके अहिंसा महाव्रत नहीं होता ॥

बल्कि प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त रूप शुद्धि विधानानुसार इन पर इस व्रत का आरोपण होता है ॥

और यदि इसके बाद भी आप हिंसा का आग्रह करोगे तो, यही दूषण पुरुषों पर भी आरोपित होगा:-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसार जी टीकाकार : मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी गाथा : २२४/७

(श्री तात्पर्य वृत्ति जी)

"एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादि जीवोत्पादो भणितः ॥ एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत् ॥ एवं न वक्तव्यं, स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति ॥"

अर्थ :- यहाँ कोई शंका करे क्या ये पूर्व में कहे मनुष्यादि सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति रूप दोष पुरुषों में नहीं होते ?

उसका उत्तर यह है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिल्कुल नहीं होते (अर्थात् होते हैं) किंतु स्त्रियों के भीतर ये दोष अधिकता से होते हैं ॥

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जैसा ऊपर श्री टीकाकार जी ने आगमानुसार कथन किया है कि स्त्रियों के भीतर ये दोष पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं; तो मान लो कि स्त्रियों में १०००० की अपेक्षा यह दोष पुरुषों में सौ मनुष्यादि सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति व हिंसा है तो क्या इन १०० भी मनुष्यों की होनेवाली हिंसा परिणामों के कारण पुरुषों के पास यह अहिंसा महाव्रत टिक पायेगा ?

नहीं न ?

किंतु नहीं, टिक पायेगा ।।

क्योंकि पुनः वही सूत्र यहाँ भी लगेगा कि यह दूषण अशक्यानुष्ठान रूप है, इसमें प्रमाद का कोई हाथ नहीं ।।

अतः सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति व हिंसा प्रमत्त योग से नहीं, अपितु अशक्यानुष्ठान के कारण है, अतः आर्यिका माताओं पर हिंसा का आरोप नहीं बनता ।।

जब हिंसा का आरोप नहीं बनता तब इनके अहिंसा महाव्रत का अभाव कैसे हो सकता है ?

अर्थात् नहीं हो सकता ।।

हाँ !! मासिक स्राव के काल में होने वाली देह व चित्त की मलिनता की शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त पूर्वक त्रिदिवसीय विधान आचार्यों ने पृथक् कहा ही है ।।

आचार्यों ने जो हिंसा कही वह द्रव्य हिंसा मात्र है, प्रमाद का अभाव होने से वह भाव हिंसा नहीं है ।। इसमें भी फिर संकल्पी तो कदापि नहीं ।।

चतुर्थ दूषण :- चतुर्थ दूषण श्री बैनाड़ा जी बतला रहे हैं कि :-

"मासिक धर्म उपरांत स्नान करना होता है, अतः अस्नान नाम का मूलगुण भी अखण्ड नहीं पलता ।।"

यहाँ एक शब्द पढ़कर खुशी हुई कि आपने लिखा है "अखंड नहीं पलता" अर्थात् आप यह स्वीकारते हैं कि एक देश पलता है ।।

किंतु नहीं, ऐसा भी नहीं है ।।

क्योंकि यह स्नान गृहस्थों की तरह शरीर श्रृंगार हेतु किया गया वृहत् आयोजन नहीं, अपितु आचार्यों द्वारा शुद्धि विधानानुसार दिये गये प्रायश्चित्त रूप है ।।

जैसे, कौए आदि के बैठने पर, अस्थि-स्पर्श अथवा रजस्वला स्त्री के द्वारा छू लिये जाने पर या चाण्डालादि अस्पृश्यों के द्वारा स्पर्श किये जाने पर दण्ड स्नान शुद्धि विधानानुसार प्रायश्चित्त रूप मुनिराजों के लिये बतलाया गया हैं, ठीक वैसे ही ।

अतः यह शुद्धि विधान हैं ।।

इस स्नान को मुनिराज के दण्ड स्नान की तरह जब अस्नान महाव्रत के अतिचारों में ही नहीं गिनवाया है, तब हम सर्वथा दूषण रूप इसकी प्ररूपणा कैसे कर सकते हैं ?

अर्थात् नहीं कर सकते ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यह स्नान आचार्य आज्ञानुसार निर्देशित शुद्धि विधान है, न कि गृहस्थों की तरह श्रृंगार हेतु किया गया प्रमाद जनित वृहत् उपक्रम ।।

अतः यह दूषण भी दूषण नहीं ठहरता ।।

उपसंहार :-

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उपरोक्त स्नान अपेक्षा सहित है, अपेक्षा रहित नहीं ॥

अपेक्षा रहित चिंतवन को ही आचार्यों ने एकांत का संसार चक्र में परिभ्रमण कराने वाला कहा है ॥

उपरोक्त सभी दूषण आर्यिका माताओं में प्रमत्त योग से नहीं है कुछ तो तीर्थंकर प्रभु की आज्ञानुसार है व कुछ अशक्यानुष्ठान रूप ॥

चूंकि ये दूषण प्रमत्त योग से नहीं है इसलिये अनाचारात्मक नहीं है ॥

और चूंकि ये अनाचारत्मक नहीं है इसलिये प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त रूप आचार्यों द्वारा निर्देशित शुद्धि विधानानुसार इन मूलगुणों के साथ रहा जा सकत ाहै ॥

और चूंकि शुद्धि विधानानुसार इन मूलगुणों में रहा जा सकता है, इसलिये आचार्य भगवंतों ने इन पर परंपरा से मोक्ष को साधने वाले (उपचार) मूलगुणों का आरोपण किया है ॥

और जब यह आरोपण स्वयं आचार्य भगवंतों ने ही किया है, फिर आचार्यों से बड़े हम कौन होते हैं जो कह दें इनके ये मूलगुण ही नहीं होते हैं ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ४

शंका :- क्या आर्यिकायें पूज्य हैं ?

समाधान :- वैसे इस विषय पर पूर्व में पर्याप्तः कहा जा चुका, किंतु फिर भी आइये बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण पर नये आयामों से चर्चा करें ॥

वे लिखते हैं :-

हमारे पूज्य देवता नौ होते हैं :- १) अरिहंत २) सिद्ध ३) आचार्य ४) उपाध्याय ५) साधु ६) जिनधर्म ७) जिनागम ८) जिनचैत्य ९) जिन चैत्यालय ॥

अब वे "अर्पितानर्पित सिद्धे" अर्थात् व्याख्यान में गौण व मुख्य के व्यवहार को भूल कर निष्कर्ष दे रहे हैं :-

"इनमें आर्यिका, क्षुल्लकादि को कोई स्थान नहीं है ॥"

आइये, आदरणीय बैनाड़ाजी की ही तर्क शैली के अनुसार उपरोक्त तर्क पर चिंतन मनन करें :-

नौ देवताओं में से, चलिये, अन्य देवताओं को गौण करके "चैत्यालय" देवता पर चर्चा करते हैं ॥

क्या बैनाड़ा जी बतलायेंगे नौ देवताओं में चैत्यालय को भी देव क्यों कहा है ?

न तो वह रत्नत्रयधारी है और ना ही उसमें रत्नत्रय की स्थापना है, फिर बतलाइये, रत्नत्रय धारियों की तरह इसे भी पूज्य क्यों कहा ?

इसका कुल अर्थ इतना ही है कि पूज्यता के लिये रत्नत्रय अकेली शर्त नहीं है ॥

पूज्यता के अन्य हेतु भी हैं।

यह जिनालय उन समस्त हेतुओं के लिये ताल-प्रलम्ब न्याय के अनुसार उपलक्षण रूप कहा गया है ॥

इसका अर्थ यह है कि इसका आश्रय लेकर रत्नत्रय से अन्य जितने भी पूज्य पद, पूज्य स्थान, पूज्य काल आदि आगम में कहे गये हैं, उन सभी को इस एक चैत्यालय पद से ग्रहण कर लेना ॥

इसी के आश्रय से पांचों कल्याणकों के काल व स्थान भी पूज्य हैं ॥

इसी का आश्रय कर जन्म कल्याणक व प्रतिमा जी के न्हवन का गंधोदक पूज्यता को प्राप्त होता है ॥

यही नहीं, इसी का आश्रय कर गंधोदक तो ठीक, किंतु जिस स्थान पर भगवान का न्हवन सम्पन्न होता है, उस पांडुक शिला की भी अष्ट द्रव्य से पूजा आगम में कही गयी है ॥

और तो और इसी का आश्रय कर भगवान के माता-पिता पूज्य कह जाते हैं ॥

उपरोक्त पूजनीय काल, स्थान और पद संक्षेप से कहे गये हैं ॥

विस्तार भय से इनसे अन्य अनेक हेतु आगम में पूज्यों की गणना में मंगल, शिव, सौख्य आदि शब्दों से कहे गये हैं, उन्हें नहीं कहा ॥

उनका ज्ञान प्रथमानुयोग आदि सभी ग्रंथों का सम्यक् प्रकार अध्ययन कर वहाँ-वहाँ से ग्रहण कर लेना ॥

किंतु हाँ !! जिनागम में पूज्यता के लिये रत्नत्रय का एकांत नहीं करना ॥

उपरोक्त रत्नत्रय से अन्य समस्त ही मंगलमय हेतु परंपरा मुक्ति के ही कारण हैं, संसार के नहीं ॥

आगम में पूज्यता के लिये दो विधान हैं :-

१) साक्षात् २) आश्रय से

साक्षात् को भाव निक्षेप कहते हैं और आश्रय से अर्थात् नाम, स्थापना व द्रव्य निक्षेप ॥

जैसे :- तीर्थंकर भगवान् साक्षात् पूज्य हैं ॥

तीर्थंकर प्रतिमा में साक्षात् तीर्थंकर भगवान नहीं हैं, किन्तु तीर्थंकर भगवान के द्रव्य व भाव गुणों की कल्पना है, अतः प्रतिमा जी तीर्थंकर भगवान के आश्रय से पूज्य हैं ॥ इसी को उपचार भी कहते हैं ॥

चैत्य अर्थात् तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा के आश्रय से चैत्यालय पूज्य है, अर्थात् उपचार का उपचार हुआ ॥

इसे ही आगम भाषा में क्रमशः भाव-निक्षेप, स्थापना-निक्षेप और द्रव्य-निक्षेप कहते हैं ॥

जिनागम अर्थात् जिनवाणी भी पुद्गल शब्दमय है ॥

किंतु ये शब्द जिनेन्द्र भगवान के ही मन्तव्य को कहते हैं, अतः जिनवाणी भी जिनेन्द्र भगवान के आश्रय से पूज्य हैं, साक्षात् नहीं ॥

आगम भाषा में इसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं ॥

उपरोक्त नव देवताओं में गर्भित सभी उदाहरण स्वयं कैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत जयसेनाचार्य जी के वचनों से साम्य रखते हुये उपचार सिद्ध होते हुए, उपचार में भी पूज्यता के सूचक हैं ॥ जयसेनाचार्य जी के वचन थे कि :-

परिहारमाह :- नचोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति, अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् ॥

अर्थ :- जो उपचार कथन है वह साक्षात् नहीं होता है ॥ जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर हैं ॥

तात्पर्य :- उपरोक्त उदाहरण अनुसार पुद्गल शब्दमय जिनवाणी माता,

१) साक्षात् है,

या

२) उपचार ?

साक्षात् तो हो नहीं सकती, क्योंकि साक्षात् कहने पर तो वे तीर्थंकर ही हो जायेंगी, और तीर्थंकर तो वे है नहीं ॥

अतः उपचार है और उपचार होने पर भी उन्हें गर्भित तो पूज्य नव देवताओं में ही किया गया है ॥

अब पाठक गण स्वयं विचार करें उपचार में पूज्यता का सद्भाव होता है या नहीं ?

अवश्य ही होता है, यदि नहीं होता तो जिनवाणी माता को नव देवताओं में गर्भित ही नहीं किया जा सकता था ?

अतः उपरोक्त जयसेनाचार्य जी का आशय उपचार कहने से अपूज्यता से नहीं है। उससे अपूज्य अर्थ लेना स्वयं भी पत्थर की नौका में बैठना व दूसरों को भी उसी का आश्रय लेने को प्रेरित करने वत् होगा ॥

ठीक इसी प्रकार अभी पूर्व में ही हमने कहा कि चैत्य अर्थात् प्रतिमा जी साक्षात् पूज्य नहीं है ॥ उस चैत्य अर्थात् प्रतिमा जी में तीर्थंकर प्रभु के गुणों की कल्पना की गई है ॥ वे गुण तो प्रतिमा जी में एकदेश भी अर्थात् एक अंश में भी नहीं होते, किंतु फिर भी उन गुणों की कल्पना अर्थात् स्थापना करने के कारण वह पूज्य कही गयी है ॥

यह प्रतिमा जी बैनाड़ा जी द्वारा संकलित आचार्य परमेष्ठी के वचनों का ही उत्तम उदाहरण है, जिसे कि हम प्रकरणानुसार यहाँ पुनः दे रहे हैं , जिसके द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि उपचार शब्द से अपूज्य अर्थ लिये ही नहीं जा सकते :-

(बैनाड़ा जी द्वारा चर्चा नं. ३ के प्रारंभ में ही दिया गया प्रमाण)

ग्रंथ : श्री सूत्रपाहुड़ जी ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव गाथा : २४

चर्चा :- यदि स्त्रियों में दीक्षा नहीं होती है तो उन्हें पंच महाव्रत क्यों दिये जाते हैं ?

समाधान :- यह सत्य है, किंतु सज्जाति को बतलाने के लिये महाव्रतों का उपचार होता है, यथार्थ में महाव्रत न होने पर भी उनकी स्थापना की जाती है ॥

यहाँ स्वयं बैनाड़ा जी आर्यिका माताओं पर उपरोक्त महाव्रतों की स्थापना स्वीकार कर रहे हैं ॥ यह स्थापना प्रतिमाजी की तरह ही मंत्र संस्कार पूर्वक होती है, मंत्र संस्कार रहित नहीं ॥ प्रतिमा में तो गुण मात्र कल्पित हैं, किंतु आर्यिका माताओं में तो सर्वदेश व एक देश रूप से साक्षात् दिखते भी हैं ॥

जब मात्र गुणों की कल्पना जिनमें है वह प्रतिमा जी पूज्य है, फिर जिनमें रत्नत्रय रूपी गुणों

(महाव्रतों की) स्थापना हुई है व वे गुण दृश्यमान भी हैं, तो क्या वे अपूज्य हो सकते हैं ?

त्रैकालिक नहीं हो सकते ॥

जहाँ-जहाँ रत्नत्रय की कल्पना व स्थापना है, वहाँ-वहाँ पूज्यता है ही है ॥

वहाँ पूज्यता का अभाव कहना क्या सम्यक्त्व का परिचायक होगा ?

कभी नहीं ॥

जब आर्यिका माताओं में स्थापना रत्नत्रय (महाव्रतों) की ही है, तब वे अपूज्य कैसे हो सकती हैं ?

अर्थात् हो ही नहीं सकती ॥

ठीक ऐसे ही श्री चैत्यालय जी में भी साक्षात् पूज्यता का तो सर्वथा अभाव है ॥

प्रतिमाजी में पूज्यता तीर्थंकर भगवान के कारण है, जिसे कि उपचार कहेंगे व चैत्यालय जी में पुनः पूज्यता प्रतिमाजी के कारण है, जो कि उपचार का उपचार है ॥

अब पाठक गण स्वयं विचार करें कि जिसमें साक्षात् रत्नत्रय की स्थापना नहीं है, ऐसा चैत्यालय उपचार का उपचार होने पर भी न सिर्फ पूज्य कहा गया है, अपितु पूजा भी जा रहा है, तो जिन आर्यिका माताओं में साक्षात् रत्नत्रय की स्थापना है वे कैसे अपूज्य हो सकती हैं ॥

उन्हें अपूज्य कहना तो चैत्य व चैत्यालय, साथ में जिनवाणी माता को भी अपूज्यों की ही श्रेणी में खड़ा करवा देगा ॥

अतः उपचार शब्द से अपूज्य अर्थ ध्वनित ही नहीं होता ॥

अथवा उपचार शब्द समीप अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ॥

ग्रंथ : श्री धवलाजी ग्रंथकार : भगवन् वीरसेनाचार्य पुस्तक : ५

"उवराये....पच्चासत्तीदो अइप्पसंग पडिसेहादो

अर्थ :- उपचार कहने से प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थ के प्रसंग से अतिप्रसंग दोष का प्रतिषेध हो जाता है ॥

तात्पर्य :- जैसे "णमो अरिहंताणं" कहने से चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके तीर्थंकर भगवान को नमस्कार किया गया है ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यहाँ चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके तीर्थंकर प्रभु मात्र को नमस्कार किया गया है ?

तो उत्तर मिलता है, नहीं, सिर्फ चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके तीर्थंकर प्रभु को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु,

नाम निक्षेप से शब्द के अर्थ की अपेक्षा रहित तीर्थंकर प्रभु के नाम को भी नमस्कार किया गया है ॥

स्थापना निक्षेप कहा जा चुका है ॥

द्रव्य निक्षेप से उनके गर्भावतरण, जन्मावतरण परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा व परम निर्वाण को नमस्कार किया गया है ॥

यहाँ भी पूज्यता पूर्व व उत्तर पर्यायों की अपेक्षा है ॥

मूल पूज्य पर्याय तीर्थंकर के समीप होने के कारण)यह समीपता गर्भावतरण से प्रारंभ हो जाती है) सभी समीपवर्ती पर्यायों को पूज्य कहा है ॥

यहां उपचार शब्द का अर्थ प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती है ॥

ठीक इसी प्रकार,

आर्यिका मातायें साक्षात् महाव्रतों के अत्यन्त समीप है। यह समीपता इतनी अधिक है कि दूरी विवक्षाधीन है ॥

दूरी विवक्षाधीन है इसी कारण तीर्थंकर भगवान ने स्वयं इन्हें २८ मूलगुणों की स्थापना के योग्य/पंच महाव्रतों के उपचार संस्कार योग्य कहा व आचार्यों को निर्देश दिया कि इन पर इन्हीं महाव्रतों का आरोपण करें ॥

यही नहीं इनके लिये विशेषण भी श्रमणों के ही दिये, जैसे श्रमणी, साध्वी, तपस्विनी, संयतिका आदि-आदि ॥

यदि दूरी अधिक होती/विवक्षा रहित होती तो उपचार का प्रश्न ही नहीं उठता ॥ जैसे तीर्थंकर प्रभु के प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थ में गर्भ कल्याणक रत्नत्रय रहित होने पर भी अष्ट द्रव्य से पूजनीय है, ठीक वैसे ही रत्नत्रय के अत्यन्त समीपकाी रत्नत्रयात्मक संयमांशों की स्वामिनी होने से न सिर्फ आर्यिका मातायें उपचार विधानानुसार प्रातः स्मरणीय है, अपितु अष्ट द्रव्य से पूजनीय भी हैं ॥

यदि नहीं मानोगे तो आपके आगम से उपचार शब्द के समीपवर्ती अर्थ का अभाव हो जायेगा ॥

समीपवर्ती अर्थ का अभाव होते ही आर्यिका माताओं की तरह भगवान के गर्भावतरण आदि भी अपूज्यता को प्राप्त हो जायेंगे ॥

अतः आर्यिका मातायें भी पूजनीय हैं यही स्वीकार है ॥

शंका :- अंतिम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इनका समावेश पूज्यता की दृष्टि से किन परमेष्ठियों में किया जाये ?

समाधान :- उत्तर अत्यन्त सरल है ॥

चूंकि ये उपचार महाव्रती ही है इसलिये उपचार साधु परमेष्ठी भी हैं ॥

अतः इनका समावेश अन्य उपचारों की तरह पूज्यता की अपेक्षा सहित साधु परमेष्ठियों में ही होगा, जो कि इन्हें दिये गये विशेषणों से भी सिद्ध होता है, जिनमें इन्हें श्रमणी आदि ही कहा गया है ॥

तात्पर्य :- जिनागम के समस्त कथन अपेक्षा सहित हैं, अपेक्षा रहित नहीं ॥

मंगल अर्थात् पूज्य प्रकरण के अंतर्गत भी अपेक्षा रहित चिंतवन संसार चक्र में परिभ्रमण कराने वाले एकान्त की ओर ले जाने वाला है ॥

इसलिये यह अपेक्षा रहितता दूर रहो, दूर रहो, दूर रहो ॥

जिनागम में पूज्यता के लिये रत्नत्रय का एकांत नहीं है, उसमें भी अनेकांत है ॥

प्रकरण विशेष की अपेक्षा असंयमियों का भी पूज्य पात्रों में उल्लेख कर दिया गया है, तो कहीं गुणों में श्रेष्ठ ऐसे सिद्ध भगवंतों को णमोकार मंत्र आदि में अरिहंत परमेष्ठियों के पश्चात् नमस्कार किया गया है ॥

अर्थात् विवक्षा पारंगत अनेकांत दृष्टि का धनी ही जिनागम के मर्म में प्रवेश कर सकता है, अन्य कोई नहीं ॥

अतः आर्यिका माताओं की पूजा प्रकरण में श्री धवलाकार जी की अपेक्षा :-

"उपचार कहने से प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थ के प्रसंग से अतिप्रसंग दोष का प्रतिषेध हो जाता है"

अर्थात् उपचार विशेषण से संयुक्त होने के कारण "आर्यिकायें पूजनीय हैं" वक्तव्य में अतिप्रसंग दोष का प्रतिषेध हो जाता है, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है ॥

यहाँ उपरोक्त समस्त विवक्षायें व अन्य जो नहीं कही गयी हैं उन सभी विवक्षाओं को भी ग्रहण कर लेना व अर्थ करना कि प्रकरण विशेष की अपेक्षा पूजनीय पात्र अनेक हैं, किंतु पूजनीय संयमांशों की अपेक्षा तीनों ही लिंग पूजनीय हैं, मुख्य मुनिराज गौण आर्यिका मातायें, ऐलक महाराज, क्षुल्लक महाराज व क्षुल्लिका माताजी ॥

जैसा कि पंडित प्रवर द्यानत राय जी पंच परमेष्ठियों की आरती में कहते हैं :-

छट्ठी ग्यारह प्रतिमा धारी, श्रावक वंदौ आनंदकारी ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ६

शंका :- क्या आगम में आर्यिका की नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है ?

समाधान :- इस विषय का बहुभाग पूर्व में कहा जा चुका है, किंतु फिर भी बैनाड़ा जी जैसी बुद्धिवालों के लिये कुछ कहते हैं ॥

आदरणीय बैनाड़ा जी ने श्री प्रवचनसारजी को प्रमाण रूप में लिया है।

इस प्रमाण में आचार्य भगवंत से पूछा गया है कि यदि स्त्रियों के मुक्ति नहीं है तो (फिर उन पर) महाव्रतों का आरोपण किसलिये ?

तो आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि यह उपचार कुल (मुनिकुल) की व्यवस्था के निमित्त कहा है।

अब हमारा प्रश्न यह है कि यदि कुल (मुनिकुल) की व्यवस्था के निमित्त महाव्रतों का आरोपण होता है, तो क्या उसी कुल (मुनिकुल) की व्यवस्था के निमित्त नवधा भक्ति नहीं होगी ?

अवश्य ही होगी ॥

स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा दिये गये उपरोक्त प्रमाण से यह सिद्ध हो ही गया है और हम भी पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं कि आर्यिका मातायें श्रावक कुल की नहीं, मुनि कुल की हैं, अतः उनकी पूजा, भक्ति, वंदना तो स्वयं ही सिद्ध है, उसे अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती ॥

देखिये, मुनिराज व आर्यिका माता, दोनों के लिए समान समाचार विधि अर्थात् महाव्रत दर्शाते हुए परम पूज्य मूलाचार कार आचार्य वट्टकेर मुकि दो हजार वर्ष प्राचीन ग्रंथ श्री मूलाचार जी में क्या कहते हैं :-

ग्रंथ : श्री मूलाचार जी ग्रंथकार : आचार्य वट्टकेर स्वामी मुनि अध्यायः ४ गाथा : १९६

एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
जे जगपुज्जं कितिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥

अर्थ :- उपर्युक्त विधानरूप चर्या (महाव्रतों का) का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं, वे जगत में पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं ॥

''यहाँ भी आचार्य भगवंत यही कह रहे हैं कि उपरोक्त मुनिकुल के योग्य महाव्रतों को आचरने वाले मुनि व आर्यिकाएँ''

इस वाक्य को पढ़ने के बाद तो निश्चित ही पाठकों को कोई शंका शेष नहीं रहनी चाहिए अर्थात् यह स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि आर्यिका माताओं को महाव्रतों को ही आचरने की आज्ञा

है व जिन्हें महाव्रतों को आचरने की आज्ञा है वे महाव्रतियों के ही कुल की होंगी न कि श्रावकों के कुल की ॥

हाँ !! मैं बैनाड़ा जी के संबंध में कुछ नहीं कह सकता ॥

इसके पश्चात् आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि वे मुनि और आर्यिकाएं जगत पूज्यता को प्राप्त होते हैं अर्थात् संपूर्ण जगत के द्वारा पूजे जाते हैं ...

क्या अब भी पाठकों को इनके महाव्रती कुल एवं अन्य महाव्रतियों की तरह संपूर्ण जगत के द्वारा पूजे जाने पर कोई संदेह है ? नहीं न ?

अब हम आदरणीय बैनाड़ा जी से ही पूछते हैं कि प्रिय बैनाड़ा जी क्या महाव्रतियों की तरह आर्यिकाओं के महाव्रतों व जगत पूज्यता का विधान बताने वाले, सम्पूर्ण जगत् के मुनिराजों व विद्वानों द्वारा समान रूप से मान्य, आचार शास्त्र श्री मूलाचार जी के रचियता आपकी व मेरी तरह असंयमी, वस्त्रधारी अथवा दशम् प्रतिमाधारी (आपके द्वारा सर्वथा उपेक्षित) भट्टारक जी थे ?

नहीं न ?

यदि थे तो कहो ?

और यदि नहीं थे तो स्वीकार करो कि आर्यिका मातायें मुनिराजों की ही तरह जगत् पूज्य हैं व स्वयं भी भ्रम जाल से निकलो और जो-जो आपके निमित्त से भ्रम जाल में पड़े हैं, उन्हें भी निकालो ॥

अरे भैया, नवधा भक्ति तो महाव्रतों की/मुनि कुल की/जिनलिंगियों की सहचारिणी है, अर्थात् जहाँ-जहाँ महाव्रतों की कल्पना होगी, वहाँ-वहाँ यह तो पायी ही जायेगी ॥

रोक लगानी है तो महाव्रतों के आरोपण पर लगाओ, क्योंकि महाव्रतों के आरोपण पर रोक लगते ही नवधा भक्ति पर स्वयमेव रोक लग जायेगी ॥) उपसंहार व्याख्यान चर्चा ७ में करेंगे)

बैनाड़ा जी !! आपके लिये अधिक सरल तो यही होगा कि आप घोषित करवा दो कि आर्यिका माताओं पर महाव्रतों का आरोपण भट्टारक परंपरा है ॥

अन्यथा यह तो सिद्ध ही है कि आर्यिका मातायें उपचार महाव्रती होनेसे उपचार साधु परमेष्ठी भी हैं अथवा देव शास्त्र गुरु में उपचार महाव्रती होने से उपचार से सद्गुरु भी हैं ही ॥

अतः हम श्रावकों को समझाने में व्यर्थ समय गंवाने की अपेक्षा बेहतर होगा कि आप संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी आदि दिग्गज आचार्यों के समक्ष अपना पक्ष रखें व उनसे निवेदन करें कि आर्यिकायें तो मेरे द्वारा इजाद असंयम मार्गणा के अंतर्गत आती हैं व जो असंयम मार्गणा के अंतर्गत आते हैं, उन पर महाव्रतों का आरोपण सम्यक् मार्ग नहीं है ॥ इन पर महाव्रतों का आरोपण करने वाले व वैसा उपदेश देने वाले दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं ॥

और इस प्रकार आर्यिका माताओं पर महाव्रतों के आरोपण की रोक लगते ही ये उपचार से

साधु परमेष्ठी नहीं रह पायेंगी व जैसे ही इनमें साधु परमेष्ठित्व का अभाव हो जायेगा, वैसे ही आहार चर्या में इनकी सहचारिणी नवधा भक्ति का भी अभाव हो जायेगा ॥

अतः प्रिय बैनाड़ा जी, हम पूजकों द्वारा की जाने वाली पूजा का निषेध करने की अपेक्षा आर्यिका माताओं पर आरोपित किये जाने वाले पूजा योग्य महाव्रतों के निषेध में ही आप अपना पुरुषार्थ लगायें ॥

यही नहीं, आप जिन-जिन आर्यिका माताओं के संघों में श्रद्धा भक्ति पूर्वक दर्शन-विनय को जाते हैं, उन सभी आर्यिका माताओं को समझायें कि वे सभी आपके द्वारा इजाद की गई "असंयम मार्गणा" के अंतर्गत आती हैं, अतः उन्हें महाव्रत धारण करना योग्य नहीं ॥ वे सभी अपने-अपने ग्रहण किये गये महाव्रत अपने-अपने आचार्य परमेष्ठियों को लौटा आयें, वर्ना "असंयम मार्गणा" में महाव्रतों को धारण व पालन करना दोनों ही महा मिथ्यात्व होने से वे भी महा मिथ्यादृष्टि हो जायेंगी ॥

यदि आप ऐसा कह व कर नहीं पाये तो बलात् हमारी तरह आपको भी हृदय से स्वीकार करना होगा कि आर्यिका मातायें हमारे लिए उपचार महाव्रती होने के कारण उपचार साधु परमेष्ठी/ उपचार सद्गुरु ही हैं ॥

इनमें साधुत्व व गुरुत्व का निषेध आप नहीं कर पायेंगे ॥

व साधुत्व व गुरुत्व का निषेध न कर पाने से पूजा योग्य गुणों की इनमें स्वयमेव स्वीकारोक्ति होते ही पूजकों द्वारा की जाने वाली पूजा का निषेध क्यों कर और कैसे बन पायेगा ?

अर्थात् नहीं बन पायेगा ॥

अतः प्रिय बैनाड़ा जी आपके पास दो ही मार्ग हैं, या तो आप नवधा भक्ति के समर्थक हो जाओ या फिर इनमें पूजनीय गुणों के आरोपण का निषेध करो ॥

पूजनीय गुणों का अभाव किये बिना नवधा भक्ति रूप पूजा का निषेध बन ही नहीं पायेगा ॥

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नवधा भक्ति तो महाव्रतों की सहचारिणी है, जहाँ-जहाँ महाव्रत कल्पित किये जायेंगे, वहाँ-वहाँ यह पायी जायेगी ॥

आर्यिका माताओं में महाव्रतत्व, साधुत्व व गुरुत्व की, जिनकी कि सहचारिणी नवधा भक्ति है, सिद्धि के पश्चात् अब आइये, नवधाभक्ति के लिए आवश्यक रूप से नियामक अतिथित्व व अनगारत्व की भी इनमें सिद्धि होती है या नहीं, इस विषय के भी सूत्र देखें :-

नवधा भक्ति अतिथि संविभाग व्रत का अंग है।

आइये श्री तत्वार्थ सूत्र जी पर आचार्य पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित टीका श्री सर्वार्थसिद्धिजी से इस अतिथि संविभाग व्रत का अर्थ जानें :-

श्री सर्वार्थसिद्धि जी से इस अतिथिसंविभाग व्रत का अर्थ जानें व समझें :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रंथकार : आचार्य पूज्यपादस्वामी अध्याय : ७ सूत्र २१

अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः ॥

स चतुर्विधः, भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रय भेदात् ॥

अर्थ :- अतिथि के लिये विभाग करना अतिथि संविभाग है ॥ वह चार प्रकार का है, (मोक्षमार्ग में भैक्ष्य वृत्ति वालों के लिये) भिक्षा (आहार) दान, उपकरण दान, औषध दान और प्रतिश्रय दान (रहने का स्थान) ॥

अर्थात् यह चार प्रकार का दान अतिथि को सम्यक् प्रकार से दातार द्वारा देना आतिथि संविभाग व्रत है ॥

अर्थात् यह प्रश्न उठने पर कि चतुर्विध दानों में आहार दानादि के योग्य पात्र कौन ?

तो उत्तर होगा अतिथि ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि अतिथि कौन ?

तो आचार्य पूज्यपाद स्वामी उत्तर देते हैं कि :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रंथकार : आचार्य पूज्यपाद स्वामी अध्याय : ७ सूत्र : २१

संयमम्मविनाशयन्नततीत्यतिथिः ॥

अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालगमन इत्यर्थः ॥

अर्थ :- संयम का विनाश न हो इस विधि से जो आता है, वह अतिथि है ॥

या जिसके आने की कोई तिथि नहीं, उसे अतिथि कहते हैं ॥ तात्पर्य जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि जिनागम में वे पात्र कौन से हैं, जो संयम का नाश न हो इस प्रकार चर्या करते हैं, अर्थात् वे जो उद्दिष्ट त्यागी हैं, ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक भैक्ष्य वृत्ति से अपनी आहार चर्या का निर्वाह करते हैं व ग्रहण किये गये आहार का तपश्चरण आदि में उपयोग करते हैं ?

यहीं नहीं, वे पात्र कौन से हैं जिनके आने का कोई काल निश्चित नहीं है, अर्थात् जो भिक्षा काल में आहार चर्या को निकलते तो हैं, किंतु किस दातार के घर कब अर्थात् किस तिथि को आहार ग्रहण करेंगे, इसका दातारों को निश्चय नहीं रहता और न ही जो निमंत्रण स्वीकार कर अर्थात् पूर्व आयोजन पूर्वक दातार के घर आहार को जाते हैं ?

तो उत्तर मिलता है कि जिनागम में अतिथि संज्ञा से मंडित तीन पात्र हैं जो :-

१) उद्दिष्ट त्यागी हैं ॥

२) ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक भैक्ष्य वृत्ति से आहार चर्या का निर्वाह करते हैं ॥

३) भिक्षा काल में (आगम में वर्णित काल में) सम्यक् आहार हेतु,

४) आहार दान की विधि के ज्ञाता दातारों के द्वारों की ओर भ्रमण करते हैं ॥

५) पूर्व में ही आहार का निमंत्रण स्वीकार कर निश्चित श्रावक के घर आहार हेतु गमन नहीं करते ॥

शंका :- उपरोक्त विशेषणों से युक्त वे तीन मात्र कौन-कौन से हैं ?

समाधान :- १) मुनिराज २) आर्यिका माता ३) उत्तम श्रावक/श्राविका ॥

ये तीनों ही अतिथि के लिये नियामक लक्षणों से मंडित हैं ॥

शंका :- उद्दिष्ट त्याग क्या है ?

समाधान :- नव कोटि से शुद्ध आहार ग्रहण करना ॥

नव कोटि से शुद्ध आहार का अर्थ है कि वह आहार जो मन वचन काय पूर्वक न तो स्वयं के द्वारा स्वयं के लिए बनाया गया है, मन, वचन, काय पूर्वक ना तो पर के द्वारा स्वयं के लिए बनवाया गया है और मन, वचन, काय पूर्वक न ही अपने लिये किसी के भी द्वारा निमंत्रण दिये जाने पर स्वीकार कर (अनुमोदना पूर्वक) बनाये अथवा बनवाये जाने पर प्राप्त हुआ है ॥

इस प्रकार से प्राप्त आहार को नव कोटि से शुद्ध आहार कहते हैं ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्तम, श्रावक/श्राविकाओं से लेकर मुनिराजों तक में उपरोक्त सर्व लक्षण समान रूप से पाये जाते हैं ॥

अर्थात् ये सभी नवकोटि से शुद्ध आहार ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक भैक्ष्य वृत्ति से लेते हैं ॥

तात्पर्य :- अतिथि विशेषण तीन के लिये १) मुनिराज २) आर्यिका माता ३) उत्तम श्रावक/श्राविका ॥

आइये, इसे और भी सरल कर जानें व समझें ॥

उत्कृष्ट श्रावक की संज्ञा है उद्दिष्ट त्यागी अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक, ऐलक महाराज आदि) उद्दिष्ट त्यागी होते हैं ॥

उद्दिष्ट त्यागी के अर्थ हैं :-

नव कोटि से शुद्ध आहार लेने वाले ॥

भैक्ष्य वृत्ति से आहार प्राप्त करने वाले ॥

ग्रहण किये गये आहार से तपश्चरण आदि साधने वाले ॥

निमंत्रण पूर्वक आहार हेतु दातार के घर नहीं जाने वाले ॥

क्या इनसे अन्य, पूर्व (आचार्य उमास्वामी आदि द्वारा) कथित अतिथियों के और भी कोई लक्षण हैं ?

नहीं न ?

जब इनसे अन्य अतिथियों के लक्षण ही नहीं है, तब फिर अतिथि उद्दिष्ट त्यागी का ही पर्यायवाची या एकार्थक नहीं हुआ क्या ?

नियम से हुआ ॥

अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाधारी भी अतिथि ही हैं ॥

ये तीनों ही पात्र अतिथि हैं ॥

ये अतिथि हैं, इसीलिए परम पूज्य कुंदकुंदाचार्य ने स्वयं जिनागम में कितने लिंग वर्णित हैं ? के उत्तर में घोषणा की कि जिनागम में तीन ही लिंग हैं, चौथा नहीं ॥

अर्थात् जिनागम में तीन ही मोक्ष मार्ग के योग्य पात्र हैं, चौथा नहीं ॥

शेष पात्रों की नियत तिथियाँ हैं, वे निमंत्रण प्राप्त होने पर ही आहार हेतु अन्यों के यहाँ जाते हैं, भिक्षावृत्ति उनकी नहीं है और न ही वे उद्दिष्ट आहार के त्यागी हैं ॥

इसलिये इन तीन लिंगों से शेष अतिथि नहीं हैं, सतिथि हैं ॥

अतः आहार दान हेतु प्रथम पात्र कौन ? यह प्रश्न उठने पर उत्तर होगा जिनलिंग धारी ॥

पुनः प्रश्न उठने पर कि जिनलिंगधारी कौन ?

तो उत्तर होगा, मुनिराज, आर्यिका मातायें व उत्तम श्रावक/श्राविकायें ये ही, इनसे अन्य कोई नहीं ॥

अर्थात् जब-जब आहार चर्या की चर्चा की जायेगी, तब-तब अतिथि शब्द से इन तीनों जिन लिंगियों का समुच्चय किया जायेगा ॥ (उपसंहार चर्चा - ७ में)

अतः अतिथिसंविभाग व्रत में इन तीनों ही अतिथियों का भिक्षा काल में आहार चर्या को भ्रमण करते देख, मन वचन-काय की शुद्धि पूर्वक शुद्ध आहार के ग्रहण हेतु आह्वान, पड़गाहन आदि करना अतिथिसंविभाग व्रत है ॥

यही नहीं,

इनकी संज्ञा सागार अवश्य है, किंतु पंचम गुणस्थान में होने पर भी ये हैं अनगार ॥

शंका :- कैसे ?

समाधान :- आइये समझें :-

परम पूज्य आचार्य उमास्वामी जी से प्रश्न किया गया कि भगवन् !! सागार (अगारी) कौन और अनगार कौन ?

तब इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि :-

ग्रंथ : श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रंथकार : आचार्य पूज्यपादस्वामी अध्याय : ७ सूत्र : १९

प्रतिश्रयार्थिभिः अङ्गयते इति अगारं वेश्म, तद्वानगारी ॥

न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः ॥

अर्थ :- आश्रय चाहने वाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार हैं ॥ अगार का अर्थ वेश्म अर्थात् घर (आवास) है ॥ जिसके घर है वह अगारी है और जिसके (स्व-स्वामी अर्थ में) घर नहीं है, वह अनगार है ॥

अर्थात् जिसके स्वामी अथवा तदाश्रित रूप में घर नहीं है वह अनगार है ॥

अब मैं आदरणीय बैनाड़ा जी से पूछता हूँ कि जिनागम में अनगार अर्थात् जिनके स्व-स्वामी अर्थ में घर नहीं हैं, ऐसे पात्र कितने हैं ?

अर्थात् कृपया जिनागम में वर्णित ऐसे पात्र गिनवाइये जिन्होंने मात्र अपना घर नहीं, अपितु अपने ग्राम, गली मोहल्ले का तथा तत् संबंधी समस्त आरंभादि का त्याग नव कोटि से किया है ?

यदि आगम के अनुसार बैनाड़ा जी उत्तर देने को राजी होंगे व आचार्य समंतभद्र स्वामी को भट्टारक अथवा भट्टारकीय परंपरा का नहीं मानते होंगे तब उनका उत्तर निम्न ही होगा, जिसमें वर्णित पात्र सिर्फ अनगार ही नहीं, अपितु अतिथि भी सिद्ध होते हैं :-

यही नहीं ग्रहण किये गये आहार का उपयोग किस हेतु करते हैं, इसका भी वर्णन है :-

ग्रंथ : श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार जी ग्रंथकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी श्लोक : १४७

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥

अर्थ :- जो घर से (त्याग कर) मुनियों के वन (संघ, आश्रम) को जाकर गुरु के पास (उद्दिष्ट विरत) व्रत को ग्रहण कर (ईर्यापथ व एषणा शुद्धि पूर्वक भिक्षा काल में) भिक्षा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है तथा एक वस्त्र खंड को धारण करता है वह उत्कृष्ट (श्रावक) है ॥

उपरोक्त परिभाषा ११ वीं प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक की है ॥

इस परिभाषा का आश्रय पाठक गण स्वयं विचार करें कि अतिथि व अनगार विशेषण कहाँ से प्रारंभ हो जाता है :-

१) क्या वे उत्कृष्ट श्रावक घर में रहते हैं ?

या

घर त्याग कर मुनि वन (संघ) में ?

२) क्या वे अपना भोजन स्वयं बनाते हैं ?

या

सम्यक् दातार के यहाँ आगमोक्त आहार लेते हैं ?

३) उद्दंड व उच्छृंखल होकर चर्या निर्वाह करते हैं ?

या

संयम की विराधना ना हो इस प्रकार ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक करते हैं ?

४) क्या निमंत्रण से आहार को जाते हैं ?

या

अतिथि के लिये कहे गये काल क्रमानुसार भिक्षा वृत्ति से आहार लेते हैं ?

५) ग्रहण किये गये आहार से क्या असंयम सेवन करते हैं ?

या

तपश्चरण करते हैं ?

निश्चित, ही आचार्य समंतभद्र स्वामी का आश्रय ले सिर्फ बैनाड़ा जी का ही नहीं, अपितु आप पाठकों का भी उत्तर होगा कि ये उत्कृष्ट श्रावक घर में नहीं, घर का त्याग कर मुनि वन (संघ) में रहते हैं अर्थात् अनगारी हैं, आहार स्वयं नहीं बनाते, अपितु सम्यक् दातार के यहाँ आगमोक्त आहार लेते हैं, आहार उद्दंड उच्छृंखल होकर नहीं, अपितु संयम की विराधना न हो ऐसे ईर्यापथ शुद्धि एवं ऐषणा समिति पूर्वक लेते हैं, निमंत्रण से आहार को नहीं जाते, अपितु अतिथि के लिए कहे काल क्रमानुसार भिक्षावृत्ति से लेते हैं, ग्रहण किये गये आहार से असंयम का सेवन नहीं करते, अपितु तपश्चरण करते हैं ॥

इस प्रकार यह नवकोटि से गृहत्यागी उद्दिष्ट विरत ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक न सिर्फ अतिथि हैं, अपितु अनगार भी ॥

चूंकि यह अतिथि भी हैं और अनगार भी, इसीलिए अतिथि संविभाग व्रती भिक्षा काल में अतिथि रूप द्वाराप्रेक्षण हेतु इनकी भी बाट जोहता है ॥

दिखलाई देने पर प्रफुल्लित चित्त हो आह्वान-पड़गाहन करता है, भीतर लाता है, उच्चासन देता है, पाद प्रक्षालन करता है, पूजा करता है, शुद्धि बोलता है व भोजन ग्रहण करने हेतु निवेदन करता है ॥

निरंतराय आहार सम्पन्न हो जाने पर अपने आपको धन्य मानता हुआ गद्‌गद् होता है ॥

इसी प्रकार, आजीविका रहित इन पात्रों को इन पात्रों के योग्य (उनके लिंग अनुसार) उपकरण भेंट करता है ॥

रोग हो जाने पर, आजीविका रहित इन पात्रों का यथायोग्य औषधोपचार करता है ॥

और चूंकि ये अनगार भी हैं, इसिलये ग्राम प्रवेश आदि काल में, इनके लिये प्रासुक आवास की व्यवस्था एवं वहाँ निवास हेतु विधि विशेष द्वारा निवेदन करता है ॥

चूँकि जिनलिंगी हैं, अतः जघन्य पद में स्थित गुरू परमेष्ठी ही है, इसलिये उपदेश हेतु प्रार्थना करता है और दिये गये उपदेश को सम्यक् प्रकार ग्रहण करता है ॥

यदि आदरणीय बैनाड़ा जी यह सिद्ध कर दें कि :-

१) ये जिनलिंगी नहीं हैं,

२) ये अतिथि नहीं हैं,

३) ये अनगार नहीं हैं,

तो फिर कहने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी कि इनकी नवधा भक्ति मत करो, वह तो स्वयमेव ही बंद हो जायेगी ॥

अतः,

प्रिय बैनाड़ा जी, आप तो, नवधा भक्ति का निषेध करने की अपेक्षा आचार्य कुंदकुंद देव को भट्टारक घोषित करने का प्रयास करें कि जिन्होंने इन्हें जिनोलिंगी कहा, मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी को व आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज को भट्टारक कहें कि जिन्होंने अंतरंग निर्विकार स्व संवेदन भावलिंग का इन्हें स्वामी कहा, आचार्य समन्तभद्र स्वामी को भट्टारक कहें कि जिनके कारण ये अतिथि सिद्ध होते हैं, अनगार सिद्ध होते हैं ॥

इन आचार्यों के भट्टारक सिद्ध होते ही आपका कार्य सरल हो जायेगा ॥

क्योंकि नियम है कारण का निषेध होते ही, कार्य का निषेध स्वयमेव हो जाता है ॥

आपके द्वारा इन आचार्यों को भट्टारक सिद्ध करते ही इस पद का भी अभाव हो जायेगा व पद का अभाव होते ही नवधा भक्ति का प्रश्न ही शेष नहीं रहेगा ॥

खैर !!

बैनाड़ा जी को जो सम्यक् लगे, वे करें, हम तो पाठकों की सुविधा हेतु इसी विषय को एक और प्रकार से कहते हैं :-

प्रमाण पुनः :-

ग्रंथ : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जी ग्रंथकार : आचार्य समन्तभद्रस्वामी श्लोक : १४७

अर्थ मात्र :- जो (घर त्याग करके) मुनियों के वन)आश्रम) में (निवास रूप) जाकर, गुरु के पास (उद्दिष्ट विरत) व्रत का ग्रहण कर भिक्षा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है व एक खण्ड वस्त्र को धारण करता हुआ वह उत्कृष्ट (श्रावक) है ॥

यहाँ आचार्य समन्तभद्र स्वामी ऐलक/क्षुल्लक का लक्षण बतलाते हुये कह रहे हैं कि :-

''भिक्षा भोजन करता हुआ''

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या चाहे जैसा भोजन, चाहे जिसके यहाँ, चाहे जब और चाहे जितनी बार ?

तो उत्तर मिलता है कि नहीं ॥

तब ?

आचार्य भगवंत कहते हैं भोगोपभोग परिमाण व्रत अथवा सचित्त त्याग प्रतिमा में कहे अनुसार जो भोजन बना है वही और उन्हीं घरों में व भिक्षा काल में व दिन में एक बार ॥

अब पुनः प्रश्न उठता है कि पूर्व निमंत्रण से आहार चर्या को किसी घर में नहीं जाते हैं, तो क्या सीधे, जिस घर में यह भोजन बना है, उस घर में बगैर स्वामी की अनुमति या अनुमति पूर्वक जाकर भोजन ग्रहण कर लेते हैं ?

तब पुनः उत्तर मिलता है कि नहीं ॥

तब ?

तो आचार्य भगवंत कहते हैं कि दातार द्वारा द्वारापेक्षण करने पर व श्रद्धा भक्ति सहित आहार जल शुद्धि का, मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक निवेदन करने पर दातार के गृह में प्रवेश करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं ॥

शंका :- यह आहार जल शुद्धि क्या है ?

समाधान :- आहार जल शुद्धि का अर्थ है ''त्यागियों व व्रतियों के करने योग्य प्रासुक आहार के संविभाग का आयोजन हमारे यहाँ है, यह भोजन हमने मन, वचन एवं काय की शुद्धि पूर्वक निर्मित किया है व मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक ही आपको समर्पित करेंगे'' ऐसा व्रती द्वारा पात्र को निवेदित करना ॥

शंका :- आपने कहा श्रद्धा भक्ति सहित निवेदन करते हैं, तो फिर यह श्रद्धा भक्ति सहित क्यों ?

समाधान :- छल का अभाव करने के लिए ॥

जिन दातारों में पात्र के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं होती, उनके यहाँ शुद्धि संबंधी प्रमाद वर्तता है, यही नहीं ग्रहण करने वाले पात्र में दीनता भी आती है ॥

अतः प्रमाद जनित अप्रासुकता का परिहार करने के लिये, सिंह वृत्ति के समायोजन के लिये व दीनता का अभाव करने के लिये उन्हीं दातारों के यहाँ लेते हैं, जिनके हृदय में इनके द्वारा लिये गये व्रतों व गुणों के प्रति श्रद्धा, आदर व पूज्यता की बुद्धि होती है ॥

इसलिये आहार दान में उच्चासन पूर्वक पूजा का समायोजन किया जाता है ॥

इसके पश्चात् ही निवेदन करने पर भिक्षुक अंजुली खोलते हैं या पात्र आगे करते हैं, इसके पूर्व नहीं ॥

इन्हीं आह्वान, उच्चासन, पूजन आदि विधि विशेष द्वारा ही दातार के लघुता बुद्धि आती है, अन्यथा नहीं ॥

जैसा कि द्वार पर आये भिखारी को द्रव्य दान करते वक्त श्रद्धा भक्ति का अभाव होने से लघुता बुद्धि का भी अभाव होता है तथा धर्म बुद्धि भी नहीं होती, नैतिक आचरण रूप उपकारक बुद्धि मात्र होती है ॥

इस विधि विशेष द्वारा दिये गये द्रव्य विशेष से दान का फल भी विशेष ही प्राप्त होता है, जैसा कि पूर्व में भी श्री तत्वार्थसूत्र जी अध्याय ७ सूत्र ३९ से उद्धृत कर हमने कहा था :-

नवधा भक्ति रूप विधि विशेष द्वारा और अस्रूया व विषाद आदि दोषों से रहित द्रव्य विशेष (प्रासुक द्रव्य) को देने से दान के फल में भी विशेषता आती है ॥

अर्थात् विधि विशेष (नवधा भक्ति रूप श्रद्धा भक्ति सहित) दिये गये दान का फल अति

विशेष है व विधि रहित (नवधा भक्ति रूप श्रद्धा भक्ति रहित) दिये गये दान का फल विशेष नहीं, अपितु कुभोगभूमि आदि रूप अति सामान्य ॥

किन्हें देने पर ?

उत्तर है पात्र विशेष अर्थात् सम्यक्दर्शनादि गुणों से मंडितों को (विशेष व्याख्यान चर्चा ७ में)

इन पात्रों में भी पुनः ज्ञान, दर्शन, तपादि के द्वारा विशेषता होती है जैसे ऋद्धिधारी मुनियों को अथवा तीर्थंकरादि को आहार दान देने से पंचाश्चर्य होते हैं ॥

किस प्रकार देने पर ?

ईर्ष्या, खेद आदि बुद्धि से रहित होकर ॥

तात्पर्य जिनका उपरोक्त विधि विशेष द्वारा द्वारावलोकन किया जाता है वे अतिथि अर्थात् आहार दान के योग्य सत्पात्र हैं ॥

अतः दिये गये दान का उत्तम फल पाने के लिए मैं विधि विशेष अर्थात् नवधा भक्ति पूर्वक पात्र विशेष को ईर्ष्या खेद आदि दोष रहित बुद्धि का होकर द्रव्य विशेष के दान हेतु प्रस्तुत हूँ,

हे भगवान् !! राजा श्रेयांस सी मुझमें भी दान पात्रता आये, तब तक जब तक कि मैं वर्तमान में परंपरा से मोक्ष सुख को साधने वाले मुनि, ऐलक या क्षुल्लक पद को धारण न कर लूँ व भवांतर में साक्षात् मोक्ष के योग्य पुरुषार्थ को प्रस्तुत नहीं हो जाऊँ ॥

हे भगवान् !! मेरी यह प्रार्थना स्वीकार हो, स्वीकार हो, स्वीकार हो ॥

आगम में पंच गृह भोजी क्षुल्लक महाराजों का वर्णन हैं ॥ ये क्षुल्लक महाराज पाँच गृहों से भोजन एकत्रित कर एक गृह में बैठकर एकत्रित किये भोजन को ग्रहण करते हैं ॥

क्षुल्लक महाराजों की नवधा भक्ति का निषेध करने हेतु, यहाँ बैनाड़ा जी तर्क दे रहे हैं कि जब क्षुल्लक पांच घरों से आहार लेगा तब नवधा भक्ति कैसे होगी ?

इस शंका का उत्तर अत्यन्त सरल है कि द्वारापेक्षण व नवधाभक्ति पूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि सहित निवेदित किये शुद्ध आहार जल को ही वे एकत्रित करेंगे, और क्या?

अर्थात् दान देने को प्रस्तुत व्रती द्वारा इन क्षुल्लक महाराज को देख द्वारापेक्षण आदि नवधा भक्ति विशेष द्वारा निवेदित शुद्ध आहार जल को एकत्रित करते हैं, याचना बुद्धि से प्राप्त दान को एकत्रित नहीं करते ॥

वैसे भी पात्र के प्रति नवधा भक्ति अर्थात् विधि विशेष द्वारा दान निवेदित करना यह अतिथिसंविभाग व्रती का विषय व कर्त्तव्य है ॥

दान के फल विशेष को पाने नवधा भक्ति रूप प्रक्रिया आदि में मोक्ष मार्ग व मोक्षमार्गियों पर श्रद्धा विशेष होने से अनादर या न्यूनता क्यों करेगा ?

अर्थात् नहीं करेगा ॥

अर्थात् नवधा भक्ति पूर्वक ही दान हेतु शुद्ध द्रव्य को निवेदित करेगा ॥

आइये अब, इनमें अतिथित्व व अनगारत्व की सिद्धि हेतु संक्षेप में श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा जी का भी मत देखें :-

ग्रंथ : श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी ग्रंथकार : मुनिवर्यकार्तिकेयस्वामी गाथा : ३९०

जो णव कोडि विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं ।
जायण रहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरदो सो ॥

अर्थ :- आचार्य भगवंत इस प्राकृत गाथा में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक की परिभाषा व संज्ञा बतलाते हुये कहते हैं कि :-

"सो उद्दिट्ठाहार-विरदो जो णव कोडि विसुद्धं भोज्जं भुंजदे"

अर्थात् :- वह उद्दिष्ट आहार विरत है जो नवः कोटि से विशुद्ध भोजन करता है ॥

आइये, इसे समझें :-

१) जिसके पास भोजन बनाने का, बनवाने का अथवा बनाते हुये की अनुमोदना का आयोजन है उसके आहार को उद्दिष्ट आहार या गृहस्थोचित आहार कहते हैं ॥

जैसे अपने लिए स्वयं बनाना, अथवा,

अपने लिये रसोइये आदि द्वारा बनवाना, अथवा

भोजन-हेतू निमंत्रण प्राप्त होने पर स्वीकृति देना ॥

जिसका भोजन उपरोक्त प्रकार से आयोजित है वह उद्दिष्ट आहारी है ॥

२) किंतु जिसके पास न तो बनाने का, न बनवाने का अथवा न ही बनाते हुये की अनुमोदना का कोई आयोजन है उसे उद्दिष्ट आहार विरत कहते हैं ॥

अर्थात्

जो न तो अपने लिये बनाते हैं,

न ही दूसरों से अपने लिये बनवाते हैं ,

और न ही निमंत्रण प्राप्त होने पर भोजन की सहमति देते हैं,

जिनका आहार उपरोक्त प्रकार के उद्देश्य से रहित है वही उद्दिष्ट विरत ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक है ॥

यहाँ आहार उपलक्षण है ॥

इसे आदि लेकर वसतिका, आसन, संस्तर आदि का भी चिंतवन होता है ॥

अर्थात् यह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उद्दिष्ट वसतिका आदि का भी नौ कोटि से त्यागी होता है ॥

अर्थात् यह मात्र उद्दिष्ट आहार विरत (त्यागी) ही नहीं अपितु उद्दिष्ट वसतिका विरत (त्यागी) अनगार भी होता है ॥

इसी उद्दिष्ट विरति के आहार को नव कोटि से शुद्ध आहार कहते हैं ॥ अर्थात् मन वचन काय पूर्वक कृत कारित अनुमोदन से रहित ॥

यही आहार व वसतिका निवास चर्या मुनियों की भी है अर्थात् इनकी आहार चर्या व वसतिका निवास चर्या मुनिवत् है ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि जब बनाने का, बनवाने का व निमंत्रण प्राप्त कर बनाये गये आहार की सहमति का त्याग है, तब यह उद्दिष्ट विरत भोजन कैसे करते हैं ?

तब आचार्य भगवंत एक शब्द में उत्तर देते हैं कि :-

"भिक्खायरणेण"

अर्थात् :- भैक्ष्य या भिक्षावृत्ति द्वारा ॥ अर्थात् अन्य के गृह जाकर ॥

जैसे कि मुनिराज जाते हैं ॥

पुनः प्रश्न उठता है कि भिक्षावृत्ति में दातार के घर याचना करके भोजन प्राप्त करते हैं क्या ?

तब आचार्य भगवंत पुनः एक शब्द में उत्तर देते है :-

"जायण रहियं"

अर्थात् :- याचना रहित होकर ॥

याचना रहित का अर्थ होता है दातार का द्वार खट् खटाकर या उसे आवाज लगाकर भिक्षा की याचना करते हुये नहीं, अपितु दातार द्वारा दाता के गुणों से समन्वित होकर द्वाराप्रेक्षण पूर्वक निवेदित करने पर अर्थात् नवधा भक्ति पूर्वक ॥

जैसा कि मुनिराजों का लक्षण है ॥

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि चाहे जैसा/चाहे जिससे आहार ले लेते हैं क्या ?

तो आचार्य भगवंत इस प्रकार की शंका उठने पर पुनः उत्तर एक ही शब्द में दे रहे हैं कि :-

"जोग्गं"

अर्थात् :- योग्य

इसका अर्थ है योग्य-द्रव्य को योग्य-दाता द्वारा ॥

योग्य-द्रव्य का अर्थ होता है यतियों के ग्रहण करने योग्य प्रासुक आहार व योग्य दाता का अर्थ होता है दाता के गुणों से समन्वित तथा सूतक-पातक आदि से निवृत्त व चाण्डाल आदि से अस्पृश्य अथवा अशुद्ध श्रावकों से भी अस्पृष्ट ॥

निष्कर्ष :-

अतः सिद्ध हुआ कि अतिथि विशेषण उद्दिष्ट आहार विरत का ही पर्यायवाची या एकार्थक है व अनगार विशेषण वसतिका विरत का ॥

क्योंकि अतिथि की उद्दिष्ट आहार विरत से व अनगार की उद्दिष्ट वसतिका विरत से अन्य

परिभाषा ही नहीं है और चूंकि ये जिनलिंगी भी हैं जो कि मोक्षमार्गी का/साधुका एकार्थक वा पर्यायवाची हैं, अतः

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी गुरुवर्य ऐलक महाराज, क्षुल्लक महाराज व क्षुल्लिका मातायें मोक्षमार्गी हैं, अतिथि हैं, अनगार हैं, साधु हैं, उत्तम पात्रवत् ।।(विशेष देखिये चर्चा ७)

और चूंकि ये उत्तम पात्र हैं अतः नवधा भक्तिसे इनकी सहचारिणी ही हैं ॥

और चूंकि नवधा भक्ति इनकी सहचारिणी है, अतः नवधा भक्ति पूर्वक दान निवेदित करना यह अतिथि संविभाग व्रती का नियामक कर्त्तव्य है ॥ इसीलिये इन्हें भी आहार दान नवधा भक्ति पूर्वक ही दिया जाता है, अन्य प्रकार नहीं ॥

अंतिम शंका :- यदि ऐसा ही है तो फिर इनकी श्रावक संज्ञा क्यों हैं ?

समाधान :- इसका उत्तर पूर्व में दे आए हैं कि रूढ़ि से अथवा आम्रवन न्याय से ॥ जैसे जिस वन में आम के वृक्षो की बहुलता होती है, उसे आमके वृक्षों की बहुलता के कारण आम्रवन कहा जाता है ॥

किंतु आम्रवन कहे जाने से यह अर्थ नहीं होता कि वहाँ नीम आदि के वृक्ष नहीं पाये जायेंगे ॥

अपितु यह प्रश्न किये जाने पर कि अमुक नीम का वृक्ष कहाँ मिलेगा ? तब उत्तर प्राप्त होता है कि अमुक आम्रवन में ॥

ठीक इसी प्रकार पंचम गुणस्थान सागार (अगारी) बहुल गुणस्थान हैं ॥

यही नहीं पंचमगुणस्थान की व्याख्या भी आचार्यों ने मुख्यतया द्वितीय प्रतिमाधारी देशव्रती की अपेक्षा से की है ॥

अतः, चूंकि इस गुणस्थान में गृहस्थ या अगारी (श्रावक) ही बहुलता से उपलब्ध होते हैं व इस गुणस्थान की व्याख्या भी आचार्यों ने उसी श्रावक को मुख्यतया अपनी दृष्टि में रख कर की है, इसलिये सम्पूर्ण पंचम गुणस्थान की ही श्रावक अर्थात् सागार संज्ञा है,

जब कि अनुभव व उपदेश दोनों से ही सिद्ध है कि इस गुणस्थान में स्थित ग्यारहवीं प्रतिमाधारी सागार नहीं अनगार ही हैं, सतिथि नहीं, अतिथि हैं, गृहवासी नहीं, वनवासी हैं, श्रावक नहीं साधु हैं ॥ (विशेष देखिये चर्चा ७ का अंतिम अंश)

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ७

शंका :- क्या आगम में तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति कही है ?

समाधान :- बैनाड़ा जी लिखते हैं कि जिनागम में न तो आर्यिका माताओं की और न ही तीनों पात्रों की नवधा भक्ति का उल्लेख है, मानों उन्होंने वर्तमान के उपलब्ध समस्त ग्रंथों का सम्यक् (वाचना, पृच्छना आदि रूप) स्वाध्याय कर लिया है ?

हो सकता है ॥

होने को क्या नहीं हो सकता ?

मानसिक रोगों में एक रोग बहुत प्रसिद्ध है जिसमें सामने रखी वस्तु दिखलाई नहीं देती व रोगी शेष सर्व स्थानों पर उसे ढूंढता फिरता है ॥ यह रोगी अपनी ही तरंग में रहता है ॥

हम यहाँ अधिक नहीं सिर्फ एक ही, वह भी सुप्रसिद्ध व बहुलता से स्वाध्याय किये जाने वाले एवं जिसकी प्रामाणिकता को लेकर ना तो विद्वानों और ना ही मुनिराजों को कोई शंका है, उसी ग्रंथ को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करेंगे ॥

किंतु यहाँ विशेषता हमारे द्वारा प्रमाण प्रस्तुत करने में नहीं है, अपितु इस विषय में है कि ठीक इस चर्चा के आगे की चर्चा, चर्चा क्रमांक ८ में वे स्वयं लिखते हैं कि :-

(आचार्य प्रणीत प्रथमानुयोग के कई ग्रंथों में(जहाँ कहीं भी क्षुल्लक आदि के अर्घ अथवा पूजा का उल्लेख आया है....॥

अब बतलाइये हम क्या कहें ?

क्या अब भी हमारे कहने को कुछ बचता है ?

नहीं न ?

अर्थात् बैनाड़ा जी को भी स्वीकार है कि किसी न किसी अपेक्षा से क्षुल्लकादि को अर्घ चढ़ाने व पूजा करने का विधान है ॥

किंतु क्या करें, बेचारे बैनाड़ा जी का चित्त उसे स्वीकार नहीं कर पा रहा है ॥ वह इसलिए कि इस उपदेश को स्वीकार कर लेने पर उनके द्वारा ईजाद असंयम मार्गणा में बाधा जो आती है ॥

काश, मैं बैनाड़ा जी की कोई मदद कर पाता !!

किंतु नहीं, मैं बैनाड़ा जी की कोई मदद नहीं कर सकता ॥

खैर !! आइये, इस चर्चा ७ के मर्म में प्रवेश करें :-

चर्चा का विषय है :-

क्या आगम में तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति कही है ?

आइये, चर्चा पुनः अतिथि संविभाग व्रत से प्रारंभ करें ॥

इस व्रत के अंतर्गत दातार तीन प्रकार के पात्रों की प्रतीक्षा करता है :-

१) मुनिराज २) आर्यिका मातायें ३) उत्कृष्ट श्रावक/श्राविकायें ॥

जब ये जिनलिंगी, मोक्षमार्गी, अतिथि विशेषण से विभूषित, अनगार अर्थात् उत्तम पात्र द्वारापेक्षण हेतु उपलब्ध नहीं होते, तब मध्यम विरताविरत देशव्रती श्रावकों को, जो कि अतिथि नहीं है, निमंत्रण देकर अपने घर भोजन को बुला लेता है ॥

और यदि यह देशव्रती श्रावक भी पात्र रूप उपलब्ध नहीं होता है, तब जघन्य अविरति सम्यग्दृष्टि पात्र को अपने घर निमंत्रण देकर आहार को बुलाता है ॥

इसके भी अनुपलब्ध होने पर अपना दानान्तराय मान आलोचना बुद्धि पूर्वक अतिथियों का भिक्षाकाल टाल भोजन ग्रहण कर लेता है ॥

पश्चात् दया दत्ति आदि करता है ॥

अथवा स्व-सामर्थ्यानुसार तीनों पात्रों के उपलब्ध होने पर तीनों को, दो को अथवा एक को आहार करवाने के पश्चात् आहार करता है ॥

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त तीनों उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रों के आहार-दान की विधि क्या है ?

आइये, इस शंका के समाधान हेतु मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी के पास चलते हैं, जो कि विद्वानों की मीमांसानुसार लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुये :-

ग्रंथ : श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा जी ग्रंथकार : मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी गाथा : ३६०

तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ गुणेहि संजुदो णाणी ।
दाणं जो देदि सयं णव दाण विहीहि संजुत्तो ॥

अर्थ :- श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीनों प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों (नवधा भक्ति) के साथ स्वयं दान देता है, उसके तीसरा (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत होता है ॥

यह लीजिये,

हम तो कह रहे थे कि नवधा भक्ति महाव्रतों की अनुसारिणी है, किंतु यहाँ तो कहा जा रहा है कि नवधा भक्ति तो जिनके पास सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान मात्र दो गुण है ऐसे असंयमियों की तथा जिनके पास सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान के साथ चारित्र का एक देश है ऐसे देश व्रतियों की भी अनुसारिणी/अनुगामिनी है ॥

निश्चित ही इसे पढ़कर तो बैनाड़ा जी को रुककर से ही आ गये होंगे ॥

अब तो यदि वे आर्यिका माताओं के महाव्रतों का निषेध कर दें तब भी नवधा भक्ति से मुक्त नहीं हो सकते ॥

और वे स्वयं भी चर्चा ८ में स्वीकार कर रहे हैं कि आचार्य प्रणीत प्रथमानुयोग के ग्रंथों में जहाँ कहीं क्षुल्लक आदि के अर्घ व पूजा का उल्लेख आया है ....

अर्थात् कार्तिकेय स्वामी के मत की पुष्टि के प्रमाण अन्य ग्रंथों में भी है ॥

अब ?

अब क्या ?

नहीं-नहीं,

अभी भी एक मार्ग है और वह यह कि येन-केन प्रकारेण वे सिद्ध कर देवें कि मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी जी भट्टारक थे ॥

अथवा यही सिद्ध कर देवें कि यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा जी मूल आम्नाय का ग्रंथ नहीं है ॥

किंतु नहीं, वे ऐसा नहीं कर सकते।

उनके पास ऐसा करने का कोई उपाय भी नहीं है ॥

हाँ !!

वे यहाँ अपने बचाव के लिये एक प्रश्न कर सकते हैं, जिसे कि उन्होंने आगे चर्चा ८ में सम्मिलित भी किया है कि :-

मध्यम विरताविरत व जघन्य अविरत की पूजा हम कैसे कर सकते हैं ? क्या अनर्घ्य पद प्राप्तये यह पद इनको अर्घ्य समर्पित करते हुये बोलेंगे ?

प्रिय बैनाड़ा जी,

कृपया विषय को उलझाइये मत ॥

इस शंका का उत्तर अत्यन्त सरल है कि जैसी पूजा देवों ने मातंग की की, ठीक वैसी ही ॥

इसमें बाधा क्या है ?

जैसा कि पूर्व में भी हमने कहा व यहाँ पुनः कहते हैं कि पूजा तो गुणों की होती है, अवगुणों की नहीं ॥

जैसे छट्ठे गुणस्थान स्थित, प्रमत्त संयत मुनिराजों की स्तुति, वंदना, नमस्कार पूजन करते हुये उनमें विद्यमान १५ प्रकार के प्रमाद, स्तुति-वंदना आदि में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते,

अथवा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग व पीड़ा चिंतवन नामक अशुभ आर्त ध्यान का स्वामित्व होने पर भी, इनसे उनकी स्तुति-वंदना मलिन नहीं होती ॥

ठीक इसी प्रकार देवों द्वारा की गई यह अतिशय युक्त उत्तम पूजा उस मातंग के असंयतत्व अथवा चांडालत्व के कारण मलिनता को प्राप्त नहीं हो सकती,

क्योंकि यह पूजा तो उसके अंतस् में उत्पन्न हुये मोक्ष मार्ग में उपादेय अहिंसाणुव्रत के प्रति दृढ़ता विशेष की पूजा थी ॥

जैसा कि श्री धवलाकार जी के वचनों को हमने पूर्व में कहा था कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मंगल कहने से उसके मिथ्यात्व, असंयतत्व, प्रमाद आदि मंगलपने को प्राप्त नहीं हो जाते,

ठीक इसी प्रकार अवगुणों के रहने पर भी उत्पन्न हुये गुण अमंगलपने को/अपूज्यपने को प्राप्त नहीं हो जाते, अपितु पूज्य व मंगल ही रहते हैं ॥

ठीक ऐसे ही जघन्य पात्रों में उत्पन्न व सभी दिगज आचार्यों द्वारा स्तुति को प्राप्त हुआ सम्यक् दर्शन नामा गुण अथवा मध्यम देशव्रतियों में उत्पन्न हुआ उपरोक्त महिमामय सम्यक् दर्शन के साथ एक देश सम्यक्चारित्र की नवधा भक्ति में क्यों व कैसे बाधा आयेगी ?

अर्थात् कदापि नहीं आयेगी ॥

क्योंकि जिस सम्यग्दर्शन व संयमासंयम की महिमा गाते आचार्य भगवंत कभी नहीं थकते, वह क्या आधार रूप पात्र के अभाव में आधेय रूप स्वतंत्र प्राप्त होता है ?

कभी नहीं प्राप्त होता है ॥

अपितु उन परिणामों से परिणमित पात्र में ही ये गुण प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वतंत्र कभी नहीं प्राप्त होता, प्राप्त तो सम्यग्दर्शन से परिणमित सम्यग्दृष्टि ही होता है ॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन की, की गई स्वतंत्र स्तुति सम्यग्दृष्टि की ही स्तुति है ॥ इसीलिये श्री मूलाचार जी में जिनेन्द्र भगवान मुनिराजों को आज्ञा रूप निर्देश देते हैं कि :-

ग्रंथ : श्री मूलाचार जी ग्रंथकार : मुनिवर्य वट्टकेराचार्य जी गाथा : ३८४

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥

अर्थ :- एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथा योग्य यह (उपरोक्त) विनय करनी चाहिये ॥

प्रिय बैनाड़ा जी,

यदि गुण संपन्न यह श्रावक भी मुनिराज के द्वारा यथायोग्य अपने सम्यग्दर्शनादि गुणों के कारण विनय को प्राप्त होता है,

तो फिर क्या यही श्रावक, अन्य श्रावकों के द्वारा नवधा भक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता ?

निश्चित ही हो सकता है ॥

अथवा

देखिये श्री मोक्षपाहुड़ जी में गाथा ८५ से ९० तक जिनेन्द्र भगवान के निर्देशों का पालन करने वाले श्रावकों का स्वयं कुंदकुंदाचार्य जी गुणानुवाद करते हैं :-

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

अर्थ :- जिन पुरुषों ने (श्रावक, श्राविकाओं ने (मुक्ति को करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया उन पुरुषों को धन्य है, वे ही मनुष्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं ॥

अब यहाँ प्रश्न उठ रहा हैं कि आचार्य भगवंत द्वारा स्तुति को प्राप्त यह श्रावक क्या अन्यों के द्वारा पूज्यता को प्राप्त नहीं होगा ?

निश्चित ही होगा ॥

इसमें बाधा क्या है ?

और यदि फिर भी बाधा उत्पन्न करोगे तो पुनः प्रिय बैनाड़ा जी आप ही से पूछा जायेगा कि कृपा कर यह बतलाइये कि देवों ने अतिशय कर युक्त जो उत्तम पूजा मातंग की की थी उसमें मातंग की स्तुति करते हुए उन्होंने कौन से पद पढ़े होंगे ?

क्योंकि मौन पूजा तो की ही नहीं होगी: अतः क्या यह कहा होगा :-

हे मातंग !!

हमारे श्रद्धेय मुनिवर्य कुंदकुंदाचार्य जी ने तो असंयमी जनों की पूजा ही नहीं अपितु उनकी वंदना-विनय तक का निषेध कर दिया है,

किंतु पता नहीं मुनिवर्य समंतभद्राचार्य जी को क्या सूझी जो असंयम मार्गणाधीन तुझ असंयमी मातंग की पूजा वह भी उत्तम व अतिशय कर युक्त ह्म सम्यग्दृष्टि देवों द्वारा करवा दी ॥

हे मातंग !! तुझमें उत्पन्न हुआ एक देश विशेषता युक्त अहिंसाणुव्रत किंचित् भी कार्यकारी नहीं है, अकिंचित्कर ही है, वह भी असंयम कोटिका ॥

उसकी हमारे द्वारा की गई स्तुति, पूजा, वंदन,। नमस्कार हमारे लिए साक्षात् तो दूर परंपरा से भी मुक्ति का कारण नहीं है ॥

मात्र पुण्य बंध अर्थात् संसार की कारणीभूत यह तुम्हारी अतिशयकर युक्त उत्तम पूजा मोक्ष मार्ग में सार हीन, सार हीन, सार हीन है ॥

क्या देवों ने इन्हीं उद्गारों से युक्त अतिशयवान व उत्तम पूजा उस मातंग की की होगी ?

नहीं न ?

किंतु यदि बैनाड़ाजी के वक्तव्यों को हम गंभीरता से ले लें तो बगैर उपरोक्त अंशों के मातंग की पूजा हो ही नहीं सकती ॥

और जिस पूजा में उपरोक्त अंशों की किंचिका भी संभावना हो वह पूजा, पूजा इस विशेषण को भी प्राप्त नहीं हो सकती ॥

क्योंकि पूजा तो मंगलमय परिणामों की मंगलमय परिणाणों द्वारा ही संभव है। उसमें अमंगल परिणामों की किंचित् भी संभावना नहीं ॥

वह यदि लौकिक गुणों की नहीं की गई है तो तय समझिये कि परंपरा मुक्ति को ही कारण है, फिर चाहे वो मातंग की हो अथवा राजा श्रेयांस की हो या भगवान के माता पिता की ॥

यदि ऐसा नहीं मानोगे तो यह मानना होगा कि मुनिवर्य समंतभद्राचार्य जी ने अपात्रों की पूजा का विधान किया ॥

यही नहीं, अपितु उन पर यह भी आरोप आयेगा कि सम्यक् चारित्र अधिकार में उन्होंने सर्वथा संसार के कारणभूत पात्रों का अतिशय प्रगट किया ॥

क्या यह आरोप हम कलिकाल सर्वज्ञ मुनिवर्य समंतभद्राचार्य जी पर लगा सकते हैं ?

नहीं न ?

इतना ही नहीं, अपितु, इनके गुणों में उपादेय एवं अनुमोदना बुद्धि उत्पन्न करने वाली प्रथमानुयोग व चरणानुयोग में वर्णित कथाओं को आगम की गद्दी पर बैठ कर पढ़ना भी महामिथ्यात्व हो जायेगा ॥

जब पढ़ना ही महामिथ्यात्व हो जायेगा तब क्या आचार्यों द्वारा इसका परंपरा उपदेशानुसार लेखन मिथ्यात्व का कारण नहीं हो जायेगा ?

निश्चित ही हो जायेगा ॥

अतः आपका नहीं, अपितु मुनिवर्य समंतभद्राचार्य व कार्तिकेय स्वामी जी का ही मत सत्य सिद्ध हो कि मातंग आदि की आगम में कही गई पूजा परंपरा से अनर्घ्य पद को ही प्राप्त कराने वाली है, पुण्य बंध पूर्वक ॥

इसी प्रकार श्री आदि पुराण जी का भी उदाहरण है जिसे कि हमने आर्यिकाओं के दीक्षा प्रकरण में लिया था :-

ग्रंथ : श्रीआदि पुराण जी ग्रंथकार : श्रीमद् जिनसेनाचार्य जी अध्याय २४/१०५

अर्थमात्र :- भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुकृपा से दीक्षित होकर आर्यिकाओं के बीच गणिनी पद को प्राप्त हुई ॥ वह ब्राह्मी सभी देवों द्वारा (समवशरण में) पूजी गयी थी ॥

तात्पर्य :- यहाँ भी आर्यिका माता देवों द्वारा पूजी गई, वह भी समवशरण में, ऐसा कहा गया है ॥

आइये अब श्री बैनाड़ा जी के अपूजनीय/अनमस्करणीय सूत्र के अनुसार देवों ने संबोधन कहाँ से प्रारंभ किया होगा, इसकी कल्पना करें :-

"ओ असंयमी कोटि की असंयमी, अनमस्करणीय, अपूजनीय आर्यिकाओं....

क्या देवों ने ऐसे ही प्रारंभ किया होगा ?

अथवा,

क्या बैनाड़ा जी भी जब कभी आर्यिका माताओं के संघों में भक्ति भाव से परिपूर्ण दर्शन-विनय के परिणाम लेकर जाते होंगे, तो प्रारंभ ऐसे ही करते होंगे ?

नहीं न ?

अरे भाई !! निर्विकार अंतरंग स्वसंवेदन रूप भावलिंग से रहित मातंग, राजा श्रेयांस, भगवान के माता-पिता आदि की ही पूजा जब इस प्रकार नहीं की जाती, तो फिर जिनके निर्विकार अंतरंग स्वसंवेदन रूप भावलिंग वर्त रहा है उनकी पूजा इस प्रकार कैसे की जा सकती है ?

अर्थात् नहीं की जा सकती ॥

अब कल्पना कीजिए कि जब मात्र अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध ऐसे मातंग की पूजा देवों ने अतिशय कर युक्त वह भी उत्तम प्रकार की सम्पन्न की, तब गुणों में श्रेष्ठ ऐसी उपचार महाव्रती/साधु परमेष्ठी आर्यिका माताओं की पूजा कितने गुना अधिक वैभव से मंडित, अतिशयकर युक्त व उत्तम प्रकार की, वह भी समवशरण के मध्य देवों ने की होगी .....

क्या हम कल्पना कर सकते हैं ?

नहीं कर सकते न ?

निश्चित ही कल्पना से परे है ॥

यह आश्चर्य है...

मात्र आश्चर्य ही नहीं, अपितु हास्यास्पद भी है कि जिस वैभव मंडित पूजा की कल्पना तक करने में हम असमर्थ हैं, उसी के निषेध में हम अपना पुरुषार्थ लगाये हुये हैं ॥

इतना ही नहीं, अपितु पूर्वाचार्यों के उपदेश अनुसार रचे गये विद्वानों के ग्रंथों तक को हम आगम बाह्य कहने में नहीं हिचकते, मानो सम्यक् ज्ञान के आधिकारिक स्वामी हो गये हों ...

जैसा कि श्री बैनाड़ा जी के साथ हो रहा है....

मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी के कथनों का आधार ले अन्य नय-निक्षेप पारंगत विद्वानों द्वारा रचे ग्रंथों को जैसे दान शासनजी, सुधर्म श्रावकाचार जी, श्रमण संघ संहिता जी आदि के बारे में वे कहते हैं कि उन्हें प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता । ठीक कार्तिकेय स्वामी के वचनों को अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाली श्रमण संघ संहिता के पृष्ट २४१ के वचनों को अपनी मिथ्या काल्पनिक धारणा असंयम मार्गणा का आश्रय कर आगम विरुद्ध वचन कह रहे हैं ॥ (चर्चा ७ से)

मैं उन्हीं वचनों को यहाँ दे पाठकों से ही निर्णय हेतु प्रार्थना कर रहा हूँ कि वे ही तय करें कि श्रुत अवर्णवाद का जिम्मेदार कौन हैं :-

क्या बैनाड़ा जी ?,

अथवा

कार्तिकेय स्वामी का अनुसरण करने वाले ग्रंथ श्री श्रमण संघ संहिता जी ?

ग्रंथ : श्रमण संघ संहिता जी पृष्ठ : २४१

जघन्य मध्यमोत्कृष्ट पात्राणां गुण शालिनां ।
नवधा दीयते दानं यथा योग्यं सुभक्तितः ॥

अर्थ :- गुणवान जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों को भक्ति पूर्वक नवधा भक्ति से यथा योग्य दान देना चाहिये ॥

निश्चित ही पाठकों को तय हो गया होगा कि श्रुत अवर्णवादी कौन है, अब कहने की आवश्यकता नहीं ॥

जिनागम के अध्ययन हेतु सभी आचार्यों का एक मत है कि नय-निक्षेप में पारंगतता पहली शर्त है ॥ किंतु इस शर्त पर पूर्ण रूप से खरे नहीं उतरने वाले बैनाड़ा जी जिनागम के वचनों में मुख्य व गौण के सिद्धांतों में स्खलित बुद्धि हो, देखिये निष्कर्ष किस ढंग से ले रहे हैं :-

इसी चर्चा ७ में बारस अणुवेक्खा के मुख्य कथन का आश्रय ले अनुक्त गौण कथन का विस्मरण कर वे कह रहे हैं कि आर्यिका माताओं को उत्तम पात्र कहना आगम-सम्मत नहीं है ॥

आइये, उन्हीं के निष्कर्षों की परीक्षा उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण से करें :-

ग्रंथ : श्री बारस अणुवेक्खाजी ग्रंथकार : मुनिवर्य कुंदकुंदाचार्य जी गाथा : १७-१८

उत्तम पत्तं भणियं, सम्मत्त गुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिम पत्तो हु विण्णेयो ॥
णिद्दिट्ठो जिण समये, अविरद सम्मो जहण्ण पत्ते त्ति ।
सम्मत्त रयण रहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥

अर्थ :- सम्यक् दर्शन से युक्त साधु उत्तम पात्र कहे हैं और सम्यक्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिये ॥ जैन आगम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है और जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित हैं, वह अपात्र हैं ॥ इस प्रकार पात्र की अच्छी तरह परीक्षा करना चाहिये ॥

यहाँ दो गाथाओं में आचार्य भगवंत तीन प्रकार के पात्रों की प्ररूपणा कर रहे हैं :-

१) उत्तम पात्र : सम्यक्त्व - गुण से समन्वित साधु

२) मध्यम पात्र : सम्यक्दृष्टि श्रावक

३) जघन्य पात्र : अविरत सम्यक्दृष्टि

इन तीन के अलावा अन्य सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित अपात्र हैं ॥

यदि यहाँ बैनाड़ा जी की शैली में चर्चा करें तो उपरोक्त उदाहरण द्वारा उन्हीं के अपने सिद्धांत में बाधा आती है ॥

यहाँ अविरति सम्यग्दृष्टि को देशव्रती श्रावक से भिन्न बतलाया गया है और वे तो इन दोनों पात्रों को एक ही गिनते हैं ॥

एक असंयम मार्गणा के आधीन ॥

यदि देशव्रती श्रावक अविरत अर्थात् असंयम मार्गणा का ही भेद है, फिर तो इसे भी जघन्य पात्र होना चाहिए ॥

हाँ !! जघन्य पात्रों में इन्हें आप उत्तम या उत्कृष्ट कह सकते हैं, किंतु उत्तम व जघन्य से

सर्वथा भिन्न मध्यम पात्र इन्हें नहीं कह सकते और यदि कहते हैं तो यह भी मानिये कि इनकी परिभाषा व (मार्गणा) अविरत सम्यग्दृष्टि से भिन्न है।।

खैर !!

हमारा प्रकृत विषय उपरोक्त गाथा में अनुक्त गौण कथन की प्ररूपणा करना है ।।

ऊपर गाथा में कहा गया है कि सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित अपात्र होते हैं ।।

इसका अर्थ हुआ कि सम्यक्त्व रूपी रत्न से सुसज्जित सुपात्र होते हैं ।।

व उत्तम, मध्यम, जघन्य इन्हीं के भेद हैं, जो कि सम्यक्त्व रूपी रत्न से सुसज्जित हैं ।।

अर्थात् आहारादि दान के योग्य तीन ही पात्र हैं, इन तीन के अलावा अन्य कोई नहीं ।।

शेष दयादत्ति अथवा करुणादत्ति आदि के पात्र हैं ।।

अर्थात् इन तीनों को ही दिया गया आहारादि दान उत्तम फल को देने वाला है ।।

इनमें से सम्यग्दृष्टि साधु उत्तम सुपात्र हैं ।।

व सम्यग्दृष्टि श्रावक और अविरति सम्यग्दृष्टि इन्हीं सुपात्रों के मध्यम व जघन्य भेद ।।

अर्थात् तत्वार्थ सूत्र में कहा गया पात्र विशेष यहाँ कहे गये सुपात्र का पर्यायवाची अर्थात् एकार्थक है ।।

दान के प्रकरण में फलों की चर्चा करते हुये वे कहते हैं कि :-

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।। (अध्याय ७, सूत्र ३९)

अर्थ :- विधि, देय वस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उसकी अर्थात् पूर्व सूत्र में कहे दान के फल की विशेषता है ।।

अर्थात् :- यह प्रश्न किये जाने पर कि दान किसे दिया जाय ?

तो वारस अणुवेक्खा की गाथा १७-१८ के आधार से यदि उत्तर दें तब उत्तर बनेगा कि सुपात्रों को ।।

पुनः प्रश्न उठेगा कि सुपात्र कौन अथवा श्री तत्वार्थ सूत्र जी में कहे पात्र विशेष कौन ?

तो उत्तर होगा उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्र ।

किंतु नहीं, हम उत्तर दें इससे अधिक उत्तम यह होगा कि अर्थ की सरलता, सुगमता व विपरीतता से बचने के लिए चलें श्री प्रवचनसार की ओर :-

ग्रंथ : श्रीप्रवचनसारजी **ग्रंथकार : मुनिवर्य कुंदकुंदाचार्य जी** **गाथा : २५५**

(तात्पर्यवृत्ति टीका : मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी)

उत्थानिका :- अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूत वस्तु विशेषात्फलविशेषं दर्शयतिः-

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।।

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।।

टीका :- अयमत्रार्थ :- यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीय (जघन्यमध्यमोत्कृष्ट) पात्र भूत वस्तु विशेषेण भिन्नभिन्न फलं ददाति। तेन किं सिद्धम् ? यदा पूर्व सूत्र कथित न्यायेन सम्यक्त्व पूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्या पुण्यबंधो भवति परंपरया निर्वाणं च ॥ नो चेत्पुण्यबंध मात्रमेव ॥

उत्थानिका :- प्रथम ही यह दिखलाते हैं कि पात्र की विशेषता से शुभोपयोगी (दानदाता) को फल की विशेषता होती है (श्री तत्वार्थ सूत्र जी के ही शब्द हैं) ॥

गाथार्थ :- धर्मानुराग रूप दान पूजादिक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र की विशेषता से भिन्न-भिन्न रूप फलता है॥ जैसे धान्य की उत्पत्ति के काल में नाना प्रकार की पृथ्वियों में प्राप्त बीज निश्चय से विभिन्न रूप फलता है ॥

टीका :- जैसे ऋतुकाल में तरह-तरह की भूमिओं में बोये हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमि के निमित्त से भिन्न भिन्न प्रकार के फलों को पैदा करता है, वैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमि के समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रों के भेद से भिन्न-भिन्न फल को देता है॥ इस (पूर्वगाथानुसार) कथन से यह भी सिद्ध हुआ कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यता से पुण्य बंध होता है और परम्परा से वह निर्वाण का कारण है॥ वह मात्र पुण्य बंध ही नहीं करता है ॥

क्या अब बैनाड़ा जी को अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता है ?

क्या अब भी वे कह पायेंगे कि दानशासनजी, सुधर्मश्रावकाचार जी, श्रमण संघ संहिता जी आदि प्रामाणिक नहीं है ?

देखिये, ऊपर तीनों प्रकार के पात्रों की दान व पूजा दोनों ही सम्यक्दृष्टियों की शुभोपयोग चर्या है ऐसा जयसेनाचार्य जी कह रहे हैं व फल, पुण्य बंध पूर्वक निर्वाण, मात्र पुण्य बंध नहीं ॥

अब कहिये, क्या अब भी आप कह सकते हैं मध्यम व जघन्य पात्रों को नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया दान अनर्घ्य पद (निर्वाण) को दिलाने वाला नहीं है ॥

निष्कर्ष :- इस प्रकार सिद्ध हुआ कि स्वामी कार्तिकेय महाराज का ही मत सत्य है कि नवधा भक्ति पूर्वक तीनों पात्रों को दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है व सुपात्र को दिये दान का फल परंपरा निर्वाण है।

और सुनिये अपात्रों को दिया गया दान क्या फल देता है :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी ग्रंथकार : मुनिवर्य कुंदकुंदचार्य जी गाथा : २५७

(श्री तात्पर्यवृत्ति जी टीका, टीकाकार : मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी)

उत्थानिका :- अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति :-

अर्थ :- आगे फिर कहते हैं कि जो जीव सम्यग्दर्शन तथा व्रत रहित पात्रों के भक्त (दान पूजा करने वाले) हैं, वे नीच देव तथा मनुष्य होते हैं ॥

शायद बैनाड़ा जी को सुपात्र की दान पूजा व अपात्र की दान पूजा का अंतर स्पष्ट हो गया होगा ॥

इस प्रकार देवों ने मातंग की पूजा ऐसे ही नहीं की थी, अपितु उन्हें पता था कि इस पूजा का फल पुण्य बंध पूर्वक निर्वाण है, इसीलिए की थी अर्थात् यह पूजा अनर्घ्य पद को देने वाली है, यह स्पष्ट हो जाने के पश्चात् ही की थी ॥

आइये, अब मीमांसा करें कि क्या उत्तम श्रावक\श्राविकायें व आर्यिका मातायें मध्यम पात्र हैं :-

हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं कि ये अतिथि व अनगार हैं, अब इनके साधु परमेष्ठी होने के भी सूत्र युक्ति व आगम से खोजें :-

ग्रंथ : श्री रयणसारजी **ग्रंथकार : आचार्य कुंदकुंद देव** गाथा : १९

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सो वि ॥

अर्थ :- दान व पूजा ये श्रावक के मुख्य धर्म हैं, इनके बिना श्रावक, श्रावक नहीं होता ॥

परन्तु साधुओं को ध्यान व अध्ययन मुख्य है, इनके बिना यति धर्म नहीं होता ॥ (यह मंतव्य प्रायः श्री जय धवलाजी आदि सभी ग्रंथों का है, विस्तार भय से यहाँ नहीं दे रहे हैं ॥)

मीमांसा :- अब यहाँ हम आदरणीय बैनाड़ा जी से पूछना चाहते हैं कि उत्कृष्ट श्रावक का मुख्य धर्म क्या दान और पूजा है ?

नहीं न ?

फिर वे श्रावक कैसे हुये ?

अर्थात् नहीं हुये ॥

व जब श्रावक ही नहीं हुये, तब मध्यम पात्र कैसे ?

अर्थात् कहीं से भी नहीं ॥

इसी प्रकार क्या उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं) का मुख्य धर्म, ध्यान और अध्ययन नहीं है ?

निश्चित है ॥

और यदि उनका मुख्य धर्म ध्यान और अध्ययन ही है, तो फिर वे यति अर्थात् साधु परमेष्ठी ही क्यों नहीं ?

अर्थात् निश्चित ही हैं ॥

अतः श्रावक का सर्वमान्य (सभी ग्रन्थकारों द्वारा मान्य) मुख्य धर्म चूंकि इस उत्कृष्ट श्रावक का नहीं है, इसिलये वह यति है/साधु है ॥

चूंकि वे साधु ही हैं, इसीलिए कुंदकुंदाचार्य जी ने इन्हें भी जिनलिंगी कहा ॥

जिनलिंगी का सरल व सीधा अर्थ है साधु परमेष्ठी ॥

जैसा कि चर्चा १ में भी हम कह आये हैं :-

ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी टीकाकार : श्रीमद् जयसेनाचार्यजी गाथा : १९४

(श्री तात्पर्यवृत्ति जी)

"अथवा अहाकारेण लिङ्गेन् चिह्नेन् वर्तते साकारो यतिः, अनाकार चिह्नरहितो गृहस्था ॥"

अर्थ :- अथवा जो लिंग, चिह्न सहित हैं वे साकार यति साधु हैं और जो लिंग, चिह्न रहित हैं वे गृहस्थ, श्रावक अनाकार हैं ॥

और अब यहाँ यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि लिंग सहित कौन-कौन हैं और लिंग रहित कौन-कौन ?

और भी देखिये :-

ग्रंथ : श्री यशस्तिलक चम्पू महाकाव्यजी ग्रंथकार : मुनिवर्य सोमदेवसूरि श्लोक १६६ गद्य

मुनिकुमारिका

अर्थ :- (सर्व श्री अभयमति क्षुल्लिका के लिये सम्बोधन) मुनिकुमारिका

पुनः इसी ग्रन्थराज से :- (श्लोक १७५ का गद्य)।

मुनिकुमार

अर्थ :- (सर्व श्री अभयरुचि क्षुल्लकजी के लिये सम्बोधन) मुनिकुमार

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि क्षुल्लक महाराज व क्षुल्लिका मातायें भी जघन्य साधु परमेष्ठी ही हैं ॥

अतः बारस अणुवेक्खा की गाथा १७-१८ में उत्तम पात्र के अंतर्गत कहे गये साधुओं में आर्यिका माता, ऐलक महाराज, क्षुल्लक महाराज व क्षुल्लिका मातायें गर्भित हैं ॥

अर्थात् वे उत्तम पात्रों के ही भेद हैं, मध्यमों के नहीं ॥

इस प्रकरण के पश्चात् मेरी आदरणीय बैनाड़ा जी की सम्यक् राय है कि वे गौण व मुख्य उपदेश ग्रहण में पारंगत बनें/उक्त-अनुक्त उपदेश को ग्रहण करने में पारंगत बनें/अर्पित अनर्पित उपदेश को ग्रहण करने में पारंगत बनें/राजमार्ग अपवाद मार्ग के उपदेश को ग्रहण करने में पारंगत बनें ...

नहीं तो स्थिति वही बनी रहेगी कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा...

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा नं. : ८

शंका :- प्रथमानुयोग में पूजा शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है ?

समाधान :- सर्वप्रथम तो हम यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि आर्यिका मातायें (व उत्तम श्रावक/श्राविकायें) अतिथि हैं, अतिथियों की जाति के है, अनगार हैं, अनगारों की जाति के हैं, जिनलिंगी हैं, जिनलिंगियों की जाति के हैं,

अतः उनको प्रथमानुयोग आदि ग्रंथों में चढ़ाया गया अर्घ्य व उनकी की गई पूजा अतिथियों की है, अनगारों की है, जिनलिंगियों की हैं, साधु परमेष्ठियों की हैं, सद्गुरुओं की, चूँकि इसे पूर्व के प्रकरणों में सम्यक्तया सिद्ध किया जा चुका है,

इसलिये यहाँ इस विषय को गौण करके इस चर्चा के अन्य आयामों पर चर्चा करते हैं :-

आदरणीय बैनाड़ा जी यहाँ चर्चा में यह स्वीकार करते हैं कि आचार्य प्रणीत प्रथमानुयोग के ग्रंथों में क्षुल्लक महाराज आदि को अर्घ्य चढ़ाना व इनकी पूजा का उल्लेख आया है,

आइये, उन्हीं के शब्दों में सुनें :-

''कुछ लोग पुराण ग्रंथों में आये कुछ प्रसंगों का उल्लेख आर्यिका, क्षुल्लक आदि की पूजा के प्रमाण स्वरूप करते हैं, लेकिन उन प्रमाणों का अर्थ भी नवधा भक्ति नहीं है ।। जहाँ कहीं भी क्षुल्लक आदि के अर्घ्य अथवा पूजा का प्रसंग आया है, वह उनके सम्मान अर्थ में लिया है ।।''

पढ़कर प्रसन्नता हुई कि अब तक के ग्रंथों में पूजा प्रकरण का ही निषेध करने वाले बैनाड़ा जी को अर्घ्य व पूजा के प्रमाण तो मिले ।।

यह विषय अलग है कि वे यहाँ पुनः पूजा शब्द के बगैर आगम प्रमाण के स्वकल्पित अर्थ दे रहे हैं ।।

अथवा शायद वे यह समझ रहे हैं कि उन्होंने आर्यिका माता को असंयमी सिद्ध कर दिया है व संपूर्ण दिगम्बर जैन आम्नायियों ने भी इसे एक मत से स्वीकार कर लिया है....

इसीलिए आचार्यों ने धारणा के दो भेद किये हैं, मिथ्या और सम्यक् ।।

इन दो धारणाओं में से आदरणीय बैनाड़ा जी किस धारणा के भेद से ग्रसित है इसका निर्णय पाठकों पर छोड़, आइये, आगे चलें :-

वे कहते हैं ''पूजा का अर्थ सत्कार व सम्मान भी होता है,'' चलो स्वीकार कर लेते हैं ।।

किंतु पूजा शब्द का अर्थ सम्मान या सत्कार करते हुये, पुनः वे पूजा, सत्कार या सम्मान से संबंधित विचारणीय विषयों को न जाने क्यों लुप्त कर गये ।।

हम आदरणीय बैनाड़ा जी से पूछना चाहते हैं कि :-

१) इस सम्मान या सत्कार की, पूजा की तरह, कोई विधि विशेष भी है या नहीं ?

२) जैसे भगवान की पूजा के अष्ट द्रव्यादि हैं, ठीक उसी प्रकार इस सम्मान या सत्कार के कुछ द्रव्यादि हैं या नहीं ?

३) क्या यह सम्मान मौन पूर्वक होता है अथवा इसके भी कुछ मंत्र अर्थात् उद्गार आदि होते हैं।

४) इन सुपात्रों के किये गये सत्कार या सम्मान का फल क्या है ?

५) और अंत में क्या इन सुपात्रों के किये गये सत्कार या सम्मान की तुलना सम्यक्त्व रत्न से रहित अपात्रों के सत्कारादि के साथ की जा सकती है ?

इन पाचों प्रश्नों पर चिंतवन का परिपत्रक में अभाव है ॥

ना तो उन्होंने किसी भी अपेक्षा से इन प्रश्नों व इनके समाधानों का जिक्र किया है और ना ही कोई चिंतवन ॥

जिक्र व चिंतवन ना होने से परिपत्रक पढ़ कर सम्यग्दृष्टि (?) हुआ श्रावक किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा है कि :-

१) सम्मान का अवसर आने पर सम्मान किस विधि से करे ?

२) किन द्रव्यों से करे ?

३) किन मंत्रोच्चार अर्थात् कौन से उद्गार पूर्वक करे ?

४) इस सम्मान का फल क्या है ?

५) और अंत में सुपात्रों की पूजा व सम्यक्त्व रत्न रहित अपात्रों की पूजा में भेद कैसे करे ? अर्थात् क्या इन दोनों की पूजा को समान प्रयोजन वाली कहें ?

बैनाड़ा जी इन शंकाओं पर मौन हैं ॥

उन्होंने कुछ नहीं बतलाया ॥ बतलाना तो चाहिये था ॥

यदि वे बतला देते तो आचार्य कार्तिकेय स्वामी के अनुसार मध्यम् व जघन्य सुपात्रों की नवधा भक्ति प्रकरण में आराधना के स्थान पर श्रावकगण आपकी विधि व द्रव्य अनुसार सत्कार व सम्मान ही कर लेते ॥

इससे ना सिर्फ मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी का मत दृढ़ होता, अपितु आपकी भी "नवधा भक्ति ही नहीं करना" रूप शंका का समाधान होता कि नवधा भक्ति तो करना, किंतु पूजा का अर्थ आराधना नहीं सत्कार लेना ॥

और इस प्रकार अर्थ कर लेने पर नवधा भक्ति प्रकरण में मध्यम व जघन्य सुपात्रों का सम्मान या सत्कार करने में आपको भी कोई बाधा नहीं आती और यदि फिर भी बाधा आती, तब तो आप स्वयं ही स्वयं को स्व-वचन बाधा दूषण से दूषित पाते ॥

खैर !! स्वभावतः यह आपकी चिन्ता का विषय नहीं है ॥

आइये, आपके द्वारा दिये गये प्रमाणों का आश्रय ले, हम ही उपरोक्त प्रश्नों पर प्रकाश डालने का व साथ ही इस चर्चा में आपके द्वारा लिये गये निष्कर्षों की मीमांसा का प्रयास करते हैं :-

प्रथम प्रमाण (जिसका प्रमाण क्रमांक परिपत्रक में ''अ'' है, किंतु ''अ'' क्रमांक दो बार हैं, अतः बाद का):-

आदरणीय बैनाड़ा जी के अनुसार श्री प्रद्युम्न चारित्रकार जी चूंकि भट्टारक हैं अतः उन्हें वे प्रमाण नहीं मानते ॥

यह पूछने पर कि क्यों नहीं मानते ?

तो वे उत्तर देते हैं कि उन्होंने जबरन क्षुल्लकों को (पाद प्रक्षालन पूर्वक) अर्घ्य देना लिखा है ॥

चलो बैनाड़ा जी की तात्कालिक सन्तुष्टि हेतु उस शकरण को विराम देते हुए उन्हीं के द्वारा मान्य व प्रस्तुत प्रमाणों पर चर्चा करते हैं :-

ग्रंथ : श्री हरिवंश पुराण जी ग्रंथकार : मुनिकर्ण जिनसेनाचार्य सर्ग : ४२

श्लोक ८-९ (अनुवादक :पं. पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर)

द्वारिकाविभवालोक स्वशिरः कम्प विग्रहम् ।
तेऽवतीर्णं तमालोक्य, सहसोत्थाय पार्थिवाः ॥
नमस्यासन दानादि सोपचारेण सक्रमम् ।
पूजयन्तिस्मसम्मानमात्रेण परितोषिणम् ॥

अर्थ :- द्वारिका का वैभव देखकर आश्चर्य से जिनका शरीर सिर तथा शरीर कम्पित हो रहा था, ऐसे नारद जी को आकाश से नीचे उतरते देख सब राजा लोग सहसा उठकर खड़े हो गये ॥

सम्मान मात्र से संतुष्ट होने वाले नारदजी को सबने नमस्कार तथा आसन-दान आदि उपचारों से क्रमपूर्वक सम्मान किया ॥ (श्लोक में पूजित शब्द है, अनुवाद कर्ता ने इस शब्द का अर्थ नहीं किया है ॥)

मीमांसा :- अब हम आदरणीय बैनाड़ा जी से यह पूछना चाहते हैं कि :-

यहाँ यह लिखा है कि ''नमस्कार, आसन (उच्चासन) दान आदि उपचारों से (सभी राजाओं ने) क्रम पूर्वक सम्मान किया ॥

सो यह नमस्कार, फिर उच्चासन और उसके बाद शब्द प्रयोग हुआ है ''आदि''

तो इस ''आदि'' शब्द से कृपाकर बतलाइये कौन-कौन सी क्रियायें लेना जो कि सभी राजाओं ने क्रमपूर्वक सम्पन्न हुई ?

इतना ही नहीं,

यही नमस्कार, उच्चासन व आदि शब्द से जो भी क्रियायें की हों किसी न किसी मंत्रोच्चार अर्थात् उद्गार पूर्वक ही की होगी (अनुक्तन्यायानुसार) क्योंकि मौन पूर्वक सत्कार या सम्मान तो

किया नहीं जाता, अतः कृपया बतलाइये कि वे मंत्र (उद्गार) कौनसे थे ?

इसी के साथ यह भी बतलाइये कि स्थान से खड़े हो जाना व नमस्कार आदि क्रियायें किसी भय के कारण की थी या हर्षोल्लासित होकर ?

और अंतिम प्रश्न,

वह यह कि नारदजी में ऐसा क्या था जो सभी राजा अपने-अपने स्थान से खड़े हो गये व उच्चासन पूर्वक नमस्कारादि क्रियायें की ?

निष्कर्ष :-

खैर !! बैनाड़ा जी ने भले ही इन प्रश्नों की स्वप्न में नहीं सोचा होगा किंतु इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास आगे हम क्रम से करेंगे, किंतु यहाँ इतना तो सिद्ध हो गया कि :-

नारद आदि पुण्य पुरुषों को देखते ही आदर पूर्वक अपने स्थान से खड़े हो नमस्कार करना चाहिए, पश्चात् उच्चासन देना चाहिए ॥

वे उच्चासन व नमस्कार के पात्र तो हैं ही, जो कि नवधा भक्ति के दो भेद हैं और बैनाड़ा जी को भी इष्ट है ॥

द्वितीय प्रमाण (इसका प्रमाण क्रमांक परिपत्रक में "आ" है, यह क्रमांक भी दो बार है, अतः बाद का):-

इसी श्री हरिवंश पुराण जी से पुनः वे एक और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं :-

ग्रंथ : श्री हरिवंश पुराण जी ग्रंथकार : मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी सर्ग ४१ श्लोक : २२८

प्रणामेनार्चितस्तेषां, कृत्वाशिषमतिद्रुतम् ।
वियदुत्पत्य संप्राप्तो द्वारिकां नारदो मुनिः ॥

अर्थ :- काल संवर आदि ने नमस्कार कर नारद का सम्मान किया, तदनंतर आशीर्वाद देकर वे आकाश में उड़कर द्वारिका आ पहुँचे। **(श्लोक में शब्द अर्चित है, अनुवाद कर्ता ने अर्थ सम्मान किया है और नारदजी के साथ विशेषण मुनि है, जिसका कि अनुवाद कर्ता अनुवाद ही नहीं किया है ॥)**

मीमांसा :- यहाँ भी यही कहा गया है कि "नमस्कार किया," किंतु विशेषता यह है कि इस नमस्कार के प्रति उत्तर में नारद मुनि ने प्रति नमस्कार न करके, काल संवर आदि को आशीर्वाद दिया अर्थात् नारद का पद शेष सभी श्रेष्ठ पुरुषों (यहां काल संवर उपलक्षण है, इसे आदि लेकर इन्द्र आदि) द्वारा नमस्कार के योग्य है (जैसा कि इस प्रमाण के पूर्व प्रमाण से भी सिद्ध हुआ) और उन सभी (इंद्र आदि) के द्वारा नमस्कार किये जाने पर नारद मुनि का पद आशीर्वाद देने का है ॥

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिर नारद मुनि में ऐसा क्या है अथवा उनका ऐसा कौन सा पद है, जिसके कारण वे इंद्र आदि के द्वारा नमस्करणीय हैं ?

क्योंकि न तो वे काल संवर आदि के कुटुंबी अर्थात वृद्ध परिवार जन हैं और ना ही लौकिक संपन्नता, प्रभुता आदि गुणों से मण्डित हैं, और ना ही वे काल संवर आदि के लौकिक उपकारक हैं,

न ही ऋद्धि धारी होने से वे नमस्कार आदि के पात्र कहे गये हैं, क्योंकि यह ऋद्धि मायावियों में भी दिखती है,

तब ये (अन्यों के द्वारा) नमस्करणीय व (अन्यों को (आशीर्वाद देने योग्य आचार्यों द्वारा क्यों कहे गये हैं ?

निष्कर्ष :-

ये लौकिक गुणों के कारण तो नमस्करणीय कहे ही नहीं गये हैं, क्योंकि ये तो इनके पास है ही नहीं ॥

अतः नमस्करणीय तो ये अलौकिक गुणोंके कारण ही कहे गये होंगे ॥

तो उनके ये अलौकिक गुण कौन से हैं ?

बैनाड़ा जी पुनः यहाँ चुप हैं अथवा उपरोक्त सभी शंकाओं में उनका प्रवेश ही नहीं हैं ॥

खैर !! इन अलौकिक गुणों को हम ही आगे कहेंगे ॥

किंतु यहाँ यह तय है कि नारद मुनि इंद्रादि द्वारा नमस्करणीय व प्रत्युत्तर में उनका पद आशीर्वाद देने योग्य है ॥

प्रमाण तीन (परिपत्रक का क्रमांक ई) :-

ग्रंथ : श्री हरिवंशपुराण जी ग्रंथकार : मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी सर्ग ९ श्लोक १९६

अभ्यर्चिते तपोवृद्धयै, धर्म तीर्थंकरे गते।
दानतीर्थकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥

अर्थ :- पूजा होने के बाद जब धर्म तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तप की वृद्धि के लिए वन को चले गये, तब देवों ने अभिषेक पूर्वक दान तीर्थंकर राजा श्रेयांस की पूजा की ॥

मीमांसा :- यहाँ बैनाड़ा जी स्वीकार कर रहे हैं कि "देवों ने अभिषेक पूर्वक दान तीर्थंकर राजा श्रेयांस की पूजा की",

अर्थात् बैनाड़ाजी को पूजा, सन्मान, सत्कार प्रकरण में अभिषेक भी स्वीकार है ॥

तात्पर्य वे भी पात्र के अभिषेक को (जो कि प्रातःकालीन नित्य क्रिया अथवा मलिन आदि होने पर स्वच्छता हेतु किया जाने वाला स्नान नहीं है) सम्मान विधि में सम्यक् क्रिया मानते हैं ॥

निष्कर्ष :-

अब पाठक गण स्वयं बतलायें कि यदि सन्मान विधि में राजा श्रेयांस का अभिषेक हो सकता है, तो आदि शब्द से नमस्कार, उच्चासन के पश्चात् नारद मुनि का द्वारिका में उपस्थित सभी राजाओं द्वारा पाद प्रक्षालन आगम बाह्य वचन हो सकता है क्या ?

नहीं हो सकता ॥

अर्थात् प्रद्युम्नचरित्र कार भट्टारक जी द्वारा नारद-पूजन विधि में नारद के पाद-प्रक्षालन का विधान मिथ्या नहीं सम्यक् ही है ॥

और जब पाद प्रक्षालन का विधान मिथ्या न होकर, सम्यक् है, फिर मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी का अविरत व देशविरत पात्रों की नवधा भक्ति प्रकरण में कराया गया पाद-प्रक्षालन मिथ्या किस प्रकार होगा ?

अर्थात् नहीं होगा।

कृपया पाठक स्मरण रखें कि :-

हम उपरोक्त सारे निष्कर्ष बैनाड़ाजी द्वारा मान्य आगम ग्रंथों से ले रहे हैं, जिसके द्वारा भट्टारकों के ही वचन सत्य सिद्ध हो रहे हैं, अतः किन्हीं एक, दो अथवा तीन भट्टारकों के स्खलित हो जाने से संपूर्ण भट्टारक समाज अप्रज्ञ या नय-निक्षेप रहित हो जाता ॥

और मात्र वे भट्टारक हैं इसलिए उनके ज्ञान पर शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि फिर यही आरोप वस्त्रधारी विद्वानों पर भी आयेगा ॥

और किसी के ज्ञान पर आक्षेप देने के पूर्व स्वयं भी अपने ज्ञान की परीक्षा देने को प्रस्तुत होना पड़ता है ॥

उस परीक्षा में खरे उतरे बगैर प्राचीन आचार्यों व ज्ञानी विद्वानों पर अंगुली उठाना समयग्दृष्टियों का कार्य नहीं है ॥

निष्कर्ष :-

उपरोक्त उदाहरणों से जिन्हें कि स्वयं बैनाड़ा जी ने ही प्रस्तुत किया है, इतना तो सिद्ध हो गया कि सुपात्रों को नमस्कार व उच्चासन पूर्वक पाद प्रक्षालन सम्यक् विधि है, मिथ्या नहीं ॥

प्रमाण - ४ (परिपत्रक का प्रमाण "उ")

ग्रंथ : श्री आदिपुराणजी ग्रंथकार : मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी सर्ग २० श्लोक १२७

अदृष्ट पूर्वं लोकेस्मिन् दानं को हंति वेदितुम् ।
भगवानिवपूज्योऽसि, कुरुराज त्वमद्य नः ॥

अर्थ :- (देवों द्वारा राजा श्रेयांस की अभिषेक-पूजन विधि के अंतर्गत उच्चारण किये गये उद्‌गार)

इस संसार में पहले कभी नहीं देखी हुई इस दान की विधि को कौन जान सकता है ? हे कुरुराज !! आज तुम हमारे लिए भगवान के समान ही पूज्य हो ॥

मीमांसा :- क्या यहाँ यह पढ़कर ऐसा नहीं लगता, जैसे भगवान की पूजा में अंतिम अर्घ के समय पढ़ी जा रही जयमाला के ही पद हों ?

लग रहा है न ॥

इसका अर्थ यह हुआ कि पूजा शब्द का अर्थ यदि सम्मान या सत्कार भी लिया जाये तो, यह सन्मान व सत्कार जयमाला पूर्वक होता है ॥ इस सन्मान या सत्कार में जिस पात्र का सम्मान या सत्कार किया जाता है, उसके सम्मान में उसकी स्तुति रूप जयमाला के पद पढ़े या गाये जाते हैं, यह भी हमारे द्वारा नहीं, अपितु स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा दिये गये प्रमाण से सिद्ध है ॥

निष्कर्ष :-

और चूंकि यह बैनाड़ा जी द्वारा दिये गये प्रमाण से ही सिद्ध हैं, अतः उन्हें भी जयमाला पूर्वक यह सम्मान/सत्कार इष्ट है, यह निर्दोष बुद्धि से कहा जा सकता है ॥

अर्थात् विधान बना कि सत्कार या सम्मान काल में जिन मंत्रों अर्थात् उद्गारों का समावेश होता है वह पात्र की स्तुति रूप जयमाला होती है ॥

तत्पूर्वक ही सुपात्र का सम्मान/सत्कार होता है ॥

इसी के साथ यह भी स्वयमेव सिद्ध हो गया कि अविरत/देशविरत सुपात्रों की सन्मान अर्थ वाली नवधा भक्ति में पूजा प्रकरण के अंतर्गत जयमाला के पद पढ़े जा सकते हैं ॥

इसी के साथ यह भी सिद्ध हुआ कि आदि शब्द से द्वारिका नगरी में राजाओं ने न सिर्फ नारद मुनि को नमस्कार किया, उच्चासन दिया, पाद प्रक्षालन किया अपितु उनके सन्मान में स्तुति के कई बोल भी बोले ॥

प्रमाण ५ (परिपत्रक का प्रमाण क्रमांक इ)

ग्रंथ : श्री आदिपुराण जी ग्रंथकार : मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी सर्ग १४ श्लोक ७८

ततस्तौ जगतां पूज्यौ, पूजयामास वासवः ।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकैः ॥

अर्थः- तत्पश्चात्, इन्द्र ने नाना प्रकार के आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रों से उन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा की ॥

मीमांसा :- उपरोक्त प्रमाण से सर्वप्रथम सिद्ध हुआ कि जिस पात्र का हम सत्कार या सन्मान करते हैं, खाली हाथ नहीं करते, उसकी सेवा में कुछ न कुछ समर्पित करते हैं जैसा, कि देवों ने किया ॥

दूसरी बात यह कि श्लोक में शब्द आया है **"महार्घकैः"** ॥

अर्घ शब्द का अर्थ है मूल्यवान्, अतः महाअर्घ का अर्थ हुआ महामूल्यवान् ॥

तात्पर्य सुपात्र को सन्मान में जो कुछ भी मूल्यवान अर्पित किया जाता है उसे अर्घ कहते हैं ॥

अर्थात् अर्घ शब्द का अर्थ हुआ सन्मान के समय समर्पित किया जाने वाला मूल्यवान द्रव्य ॥

(यह अर्थ हम नहीं स्वयं बैनाड़ा जी को मान्य अनुवाद कर्ता ही शब्द कोश के अनुसार कर रहे हैं ।।)

निष्कर्ष :-

इस प्रकार स्वयं बैनाड़ा जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से श्री प्रद्युम्न चरित्र जी के रचियता भट्टारकजी का ही मत पुष्ट होता है कि द्वारिका नगरी में राजाओं ने न सिर्फ नारद जी को नमस्कार किया, उच्चासन दिया, पाद प्रक्षालन किया, जयमाला पढ़ी अपितु जयमाला पढ़ते हुए कुछ न कुछ मूल्यवान द्रव्य भी जिसे अर्घ कहते हैं समर्पित किया ।।

अर्थात् बैनाड़ा जी का कथन कि "भट्टारकों का अपलाप है" के स्थान पर यही सिद्ध हो रहा है कि यह तो स्वयं बैनाड़ा जी का ही अपलाप है ।।

इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर कि सन्मान अर्थात् पूजा किसी न किसी द्रव्य के समर्पण पूर्वक होती है, अब अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं कि मुनिवर्य कार्तिकेय स्वामी द्वारा कही गयी सुपात्रों की नवधा भक्ति विधान के अंतर्गत पूजा प्रकरण में पढ़ी जाने वाली जयमाला में कोई न कोई बहुमूल्य द्रव्य अवश्य अर्पित किया जायेगा, जिसे कि अर्घ शब्द से कहा जा सकता है ।।

यह प्रश्न उठने पर कि वे द्रव्य कौन से हैं, तो इसका समाधान इस चर्चा के अन्त में करेंगे ।।

शंका :- उपरोक्त प्रमाणों द्वारा सतिथि सुपात्रों की पूजा विधि, पूजा में प्रयोग होने वाले द्रव्य व पूजा में प्रयुक्त होने वाले उद्गार संबंधित विषय स्पष्ट हो जाने के बाद भी यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि यह सत्कार लोकाचार है या मोक्षाचार ?

समाधान :- अर्थात् आप यह पूछ रहे हैं कि पूजा शब्द से कहा जाने वाला यह सत्कार या सन्मान लोकाचार है या मोक्षाचार ?

वैसे इस विषय को हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि यह लोकाचार नहीं, मोक्षाचार है ।।

किंतु फिर भी यहाँ इसे ही संक्षेप में किंचित नये आयामों के साथ कहते हैं :-

प्रमाण ६ (परिपत्रक का प्रमाण "आ")

ग्रंथ : श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जी ग्रंथकार : मुनिवर्य समंतभद्राचार्य जी श्लोक : ६४

मातंगो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च संप्राप्ता, पूजातिशयमुत्तमम् ।।

अर्थ :- मातंग (यमपाल) चांडाल, धनदेव, वारिषेण राजकुमार, नीली और जयकुमार क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए ।।

मीमांसा :- इस श्लोक में पूर्व में बार-बार प्रमाण रूप से प्रयोग किये गये पात्र मातंग के अलावा अन्य पात्रों का भी उल्लेख है व कहा गया है कि वे सभी क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों के कारण उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए ।।

यहाँ इस श्लोक में अनुक्त विषय है किसके द्वारा ?

तो अन्य ग्रंथों से, जहाँ इन पात्रों की कथा का विस्तार है, उत्तर प्राप्त होता है देवों के द्वारा ॥

अर्थात् अनुक्त विषय को अन्य ग्रंथों में देखा जाना चाहिये, सभी शंकाओं का समाधान अथवा सभी विषयों की प्ररूपणा एक ही ग्रंथ से प्राप्त हो जायेगी ऐसा नियम नहीं है ॥

अब प्रश्न पुनः वही उठता है जिसे कि हमने नारद जी के प्रकरण में उठाया था कि :-

यह मातंग (यमपाल चाण्डाल) क्या देवों का कुटुम्बी या संबंधी था, या लौकिक संपन्नता, प्रभुता आदि गुणों से मण्डित था या उसने देवों पर कोई लौकिक उपकार किया था या ऋद्धि सम्पन्न कोई मायावी था ....?

अर्थात् ढूंढने पर सन्मान या सत्कार योग्य एक भी लौकिक गुण उस मातंग में हमें प्राप्त नहीं होता है ॥

फिर ?

फिर क्या, फिर तो यह तय ही है कि लौकिक गुणों के अभाव में यह पूजा अलौकिक (मोक्षमार्ग में हेतुभूत) गुणों की ही थी ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि अलौकिक (मोक्षमार्ग में हेतुभूत) गुणों की ही पूजा या सत्कार या सम्मान क्या लोकाचार हो सकता है ?

कदापि नहीं ॥

अर्थात् वह मोक्षाचार ही होगा ॥

मोक्षाचार होने से परंपरा से अनर्घ्य पद को ही देने वाला होगा, पुण्य बंध पूर्वक ॥

अतः अलौकिक गुणों से युक्त सतिथि सुपात्रों का किया गया सन्मान, सत्कार, पूजा मोक्षाचार होने से, इनको किया गया नमस्कार, इनको दिया गया उच्चासन, इनका किया गया पाद प्रक्षालन व जयमाला पूर्वक समर्पित किया गया अर्घ अनर्घ्य पद को ही दिलवाने वाला है/अनर्घ्य पद का ही साधक है ॥

इन पात्रों में पुनः नारद मुनि विशेष हैं ॥

आईये देखें, क्षुल्लक लिंगधारी नारद मुनि के गुणों के विषय में प्रिय बैनाड़ा जी द्वारा मान्य श्री हरिवंशपुराणकार जी क्या कहते हैं :-

ग्रंथ : श्री हरिवंशपुराणजी ग्रंथकार : मुनिवर्यजिनसेनाचार्यजी सर्ग : ४२ श्लोक ६/७

(अनुवाद : पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य)

असाधारणेणरूपेण गौरवाधान हेतु ना ।
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्येण पाण्डित्येनैव मण्डितः ॥
शुद्ध प्रकृतिरत्यन्तमषड्वर्गवर्जितः ।
राज्योदय इवोदरो राजलोकस्य पूजितः ॥

अर्थ :- वे (नारद मुनि) जिस प्रकार असाधारण पाण्डित्य से सुशोभित थे, उसी प्रकार गौरव की उत्पत्ति के असाधारण कारण रूप नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से सुशोभित थे ॥

वे राजाओं के उत्कृष्ट राज्योदय के समान समस्त राजाओं के पूजनीय थे, क्यों कि :-

१) जिस प्रकार (उत्कृष्ट राजाओं का) राज्योदय शुद्ध प्रकृति अर्थात् भ्रष्टाचार आदि दोषों से रहित निर्दोष प्रकृति वाले मंत्री आदि परिकरों सहित होता है,

उसी प्रकार नारद (मुनि) भी शुद्ध प्रकृति अर्थात् निर्दोष (दोष रहित) स्वभाव के धारक थे ॥

और

२) जिस प्रकार (उत्कृष्ट राजाओं का) राज्योदय शत्रुओं के षड्वर्ग से रहित होता है,

उसी प्रकार नारद (मुनि) भी काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मात्सर्य इन छः अंतरंग शत्रुओं से रहित थे ॥

प्रिय पाठक गण कृपया ध्यान रखें यह हम नहीं कह रहे हैं, स्वयं मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी, जो कि भट्टारकजी नहीं थे व बैनाड़ा जी को भी मान्य आचार्य हैं, वे ही कह रहे हैं कि नारद (मुनि) समस्त राजाओं के पूजनीय क्यों थे ॥

इनके जिन गुणों का कथन आचार्य भगवंत कर रहे हैं, इसका निर्णय पाठक गण स्वयं सरलता से कर सकते हैं वे लौकिक थे या अलौकिक ?

यदि लौकिक थे तो इनकी पूजा, सत्कार, सन्मान लौकाचार है व अलौकिक थे तो मोक्षाचार ॥

और चूंकि ये लौकिक नहीं, अलौकिक गुणों की की गई पूजा थी अतः इन्हें किया गया नमस्कार, इनका किया गया पाद प्रक्षालन, इनकी पढ़ी हुई जयमाला व इन्हें किया गया अर्घ्य समर्पण मोक्षाचार होने से अनर्घ्य पद को ही देने वाला है ॥

यही नहीं इनके लिए कुंदकुंदाचार्य जी ने इनको जिनलिंगी कहते हुए हम श्रावकों को जो इच्छाकार करने को कहा है उसका अर्थ भी उपरोक्त विधि पूर्वक करने योग्य नमस्कार ही है, यह भी उपरोक्त मीमांसा से अत्यन्त स्पष्ट है और वह भी स्वयं बैनाड़ा जी मान्य प्रमाणों से ॥

अतः सिद्ध हुआ कि पूजा शब्द का अर्थ सत्कार लिया जाये तब भी वह किया गया सत्कार या सन्मान अथवा चाहे जो नाम दो, होगा अनर्घ्य पद के लिए ही ॥

और जो अनर्घ्य पद के लिए होता है उसका अर्थ आराधना ही होना चाहिए, अन्य नहीं ॥

इसलिये कार्तिकेय स्वामी द्वारा प्ररूपित अतिथि व अतिथि दोनों की ही आराधना रूप नवधा भक्ति का मार्ग प्रशस्त व सम्यक् है और उसका फल ठीक वही है जैसा कि जयसेनाचार्यजी श्री प्रवचनसारजी में कहते हैं :- पुण्य बंध पूर्वक परंपरा मोक्ष ॥

शंका :- क्या सुपात्रों की की गई पूजा की तुलना सम्यक्त्वरत्न से रहित अपात्रों की की गई

पूजा से अथवा लौकिक गुणों की की हुई पूजा से की जा सकती है, क्योंकि बैनाड़ा जी ने परिपत्रक में सुपात्रों की पूजा का निषेध अपात्रों की पूजा से किया है ?

प्रतिशंका :- जैसे

शंका :- (जिन ग्रंथों में आर्यिका आदि उत्तम पात्र, सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम पात्र और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र की पूजा और अर्घ्य का उल्लेख है, उनके लिये प्रयोग किये गये पूजा शब्द का अर्थ सत्कार या सन्मान ऐसा न माना जाये तो उन्हीं पुराणों में अनेक स्थानों पर अव्रती स्त्रियों तथा राजा महाराजाओं की पूजा और अर्घ का भी उल्लेख है॥ क्या इस कथन से हम उनकी पूजा को पंच परमेष्ठी की पूजावत् मानेंगे ?

अर्थात् यहाँ वे आर्यिका माता आदि सत्पात्रों के लिये प्रयोग किये गये शब्द पूजा का अर्थ व अपात्रों के लिए किये गये शब्द पूजा का अर्थ, दोनों को एक मान रहे हैं, और कह रहे हैं कि आर्यिका आदि के लिए अर्थ आराधना लोगे तो अपात्रों के लिए भी अर्थ आराधना का ही लेना होगा ?

समाधान :- क्या आपकी शंका का समाधान पूर्व में नहीं कर चुके हैं ?

शंका :- कर तो चुके हैं, किंतु फिर भी.....?

समाधान :- समाधान अत्यन्त सरल है॥

इस प्रकार का व्याख्यान करने वाले बैनाड़ा जी से ही पूछा जाना चाहिये कि :-

१) सुपात्रों के कितने भेद हैं ?

तो निश्चित ही उत्तर होगा तीन :-

(क) साधु आदि उत्तम पात्र (ख) श्रावक (सम्यग्दृष्टि) मध्यम पात्र (ग) अविरत (सम्यग्दृष्टि) जघन्य पात्र॥

अर्थात् ये तीनों एक ही विशेषण से विभूषित हैं। इनके गुणों में हीनाधिकता है, इनकी जाति में नहीं॥

इन तीनों की जाति सत्पात्रों की ही जाति है॥

अर्थात् इन तीनों के उत्तम, मध्यम, जघन्य विशेषण, गुणों में हीनाधिकता के कारण है, सत्पात्रों की जातिगत भेद के कारण नहीं॥

किंतु अपात्रों में तो गुणों का ही अभाव है॥

गुणों का ही अभाव है, इसलिए उनकी जाति ही भिन्न है॥

चूँकि जाति ही भिन्न है इसलिए आचार्यों ने उन्हें संज्ञा दी 'अपात्र'॥

अर्थात् ये अपात्रों की जाति के हैं॥

जाति शब्द का अर्थ होता है समान गुण वालों का समूह॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से मण्डितों के समूह को सुपात्र और सम्यकदर्शन रूपी रत्न से रहितों के समूह को अपात्र कहते हैं ।।

इन दोनों में कोई साम्य नहीं है ।। एक मोक्षाचार है, तो दूसरा लोकाचार ।।

मोक्षाचार के सूत्र अलग है व लोकाचार के अलग ।।

एक के सूत्र दूसरे पर लादे नहीं जा सकते व जो लादता है उससे बड़ा मिथ्यादृष्टि संसार में अन्य कौन हो सकता है ?

अर्थात् कोई नहीं ।।

इसे पूर्व में हमने श्री प्रवचनसारजी, गाथा - २५५ "रागो पसत्थभूदो" पर मुनिवर्य जयसेनाचार्य जी को वचनों से सिद्ध किया था, किंतु यहाँ अनुभवगम्य उदाहरण से सिद्ध करते हैं :-

सन् १९९३ स्थान : श्री मढ़िया जी, जबलपुर (म.प्र.)

प्रकरण : श्री नंदीश्वर द्वीप पंचकल्याणक प्रतिष्ठा व गजरथ महोत्सव ।।

सानिध्य : - आचार्य विद्यासागरजी महाराज ससंघ

इस अवसर विशेष पर ससंघ आचार्य विद्यासागरजी महाराज की उपस्थिति में कुछ अजैन (जिनमत बाह्य) शासक वर्ग जैसे अर्जुनसिंहजी, राजमाता विजयाराजे सिंधिया जी आदि को उच्चासन अतिथि सन्मान पूर्वक दिया गया था ।।

उसी समय कतिपय ब्रह्मचारी वर्ग को भी, कुछ विद्वानों को व कुछ श्रेष्ठी एवं शासक वर्ग (सत्पात्रों) को भी उच्चासन दिया गया था ।।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों की की गई उच्चासन रूप पूजा क्या समान अर्थ रखती है?

नहीं न ?

रख ही नहीं सकती ।।

वहां अजैन शासक वर्ग के पुण्य को उच्चासन दिया गया था, तो ब्रह्मचारी आदि के गुण विशेष को ।।

दोनों ही स्थानों पर उच्चासन व्यक्ति विशेष को नहीं था ।।

एक उच्चासन रूप पूजा पुण्य के फल की थी तो दूसरी ब्रह्मचर्य आदिगुण-विशेष की ।।

यह प्रथम पूजा पुण्य के फल के आश्रय से उत्पन्न हुए उन गुणों की थी जो कि वर्तमान में किंचित् अनुकूलता के साथ परंपरा से किंचित् दूषित पुण्य के अर्जन को हेतु थी,

तो दूसरी पूजा सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के आश्रय से उत्पन्न गुणाधिक्य की थी जो कि सम्यक् पुण्य बंधपूर्वक परंपरा मोक्ष को कारण थी।

निष्कर्ष :-

इसलिये अविरत स्त्रियों की व राजा महाराजाओं की की गई पूजा व अर्घ्य समर्पण उनके पुण्य के फल की की गई पूजा है ॥

इस पूजा से सत्पात्रों की की गई पूजा से न तो अर्थ की अपेक्षा कोई साम्य और न ही फल की अपेक्षा, हाँ पूजा के द्रव्य की अपेक्षा साम्य हो सकता है ॥

बाह्य द्रव्य में साम्य होने से अंतरंग पूजा के भावों में भी साम्य होगा ऐसा नियम नहीं है ॥

अतः सिद्ध हुआ कि सत्पात्रों की पूजा एक भिन्न प्रकरण है और अपात्रों की पूजा भिन्न ॥

सत्पात्रों की की गई पूजा उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्रों की कही गई हैं इनके लिये प्रयोग किया गया शब्द पूजा कथंचित् साम्यता लिये है ॥

शंका :- क्या सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती चक्ररत्न की पूजा नहीं कर सकता ?

समाधान :- क्यों नहीं कर सकता ?

शंका :- अरे भाई, हम नहीं, बैनाड़ा जी कह रहे हैं ॥ वे लिख रहे हैं, "क्या भरत चक्रवर्ती जैसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की (चक्र रत्न की) जड़ वस्तु की जिनेन्द्र भगवान की तरह पूजा कर सकता है ?

समाधान :- अरे भैया, यहाँ पर बैनाड़ा जी चक्र रत्न की पूजा का निषेध कहाँ कर रहे हैं ? वे तो कह रहे हैं कि जिनेन्द्र की भगवान की तरह....

ठीक ही तो है,

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चक्ररत्न की पूजा चक्ररत्न मानकर ही करेगा, चक्ररत्न को तो जिनेन्द्र भगवान मानकर करेगा ही नहीं ॥

यह मांगलिक क्रिया है ॥

इसका निषेध तो वे कर ही नहीं रहे ॥

किंतु नहीं !! उन्होंने धीरे से विरोध अवश्य किया है कि श्री तिलोयपण्णत्ति जी में चक्ररत्न की पूजा तो कही ही नहीं, और यह ग्रंथ तो प्राचीन है, जब इसी में नहीं लिखा, तो फिर प्रथमानुयोग में लिखा स्वीकार कैसे किया जा सकता है ?

उन्हें ख्याल ही नहीं कि ऐसा करके उन्होंने श्री आदि पुराणजी के कर्ता मुनिवर्य जिनसेनाचार्य जी के सम्यक्त्व पर प्रश्न चिह्न लगा स्वयं को सम्यग्दृष्टि घोषित कर दिया है ॥

मुझे तरस आता है आदरणीय बैनाड़ा जी पर...

दुहाई देता हूँ उनके दुस्साहस की ॥

हे भगवान् !! यदि कोई विषय गाथा में अनुक्त है, तो वह कहा ही नहीं गया ऐसी बुद्धि से बैनाड़ा जी को सम्यक्त्व रूपी प्रकाश की ओर अग्रसर करवा ॥

खैर !! आइये समझें :-

प्रथम तो यह कि किसी वस्तु के जड़ मात्र होने से वह अमंगल या अपूजनीय नहीं हो जाती ।।

यदि ऐसा होता तो सर्वप्रथम मुनिवर्य वीरसेन स्वामी श्री धवला जी में निम्न वचन लिखते हुए मिथ्यादृष्टि घोषित हो जाते :-

ग्रंथ : श्री धवलाजी ग्रंथकार : मुनिवर्य वीरसेनस्वामी पुस्तक १

(प्रकरण : मंगलाचरण)

"तत्र लौकिकं त्रिविधं, सचित्तमचित्तंमिश्रमिति ।।"

अर्थ :- लौकिक मंगल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है ।।

यहाँ पर अचित्त अर्थात् जड़ वस्तु को लौकिक मंगल संबोधन दिया गया है ।।

यही नहीं अष्ट मंगल द्रव्यों को जो कि अचित्त अर्थात् जड़ ही है मंगल संबोधन दिया गया है ।।

तथा अष्ट प्रातिहार्यों में भी तीन छत्र, रत्न खचित सिंहासन और प्रभामण्डल अचित्त अर्थात् जड़ मंगल ही है ।।

यही नहीं समवशरण में अथवा तीर्थंकर भगवान के विहार काल में यक्षेन्द्र जिस धर्म चक्र को मस्तक पर धारण पर अपने को धन्य मानता हुआ भगवान के आगे-आगे गमन करता है, वह भी जड़ ही है ।।

तात्पर्य जड़ता मात्र से कोई वस्तु अमंगल नहीं हो जाती ।।

अतः जड़ता का पूजनीयता से और अपूजनीयता से कोई संबंध नहीं रहता है ।।

लौकिक व अलौकिक दोनों संदर्भों में पूज्यता का संबंध विशेषता से/अतिशयता से है ।।

यदि जड़ वस्तु भी विशेष व अतिशय सम्पन्न हो और उसकी उत्पत्ति का कारण भी अतिशय से युक्त हो तो वह भी पूज्य हो जाती है ।।

यह हम श्रावकों का दैनिक अथवा सामयिक अनुभव भी है, और आगमोक्त भी ।।

ठीक वैसे ही चक्ररत्न ।।

इसे धारण करने से ही चक्रवर्ती, चक्रवर्ती इस विशेषण को पाता है ।।

इसकी उत्पत्ति के पूर्व चक्रवर्ती नाममात्र को चक्रवर्ती होता है ।।

इसी के आश्रय से छः खण्ड को जीतने की अपनी वतंक्षा पूरी करता है ।।

यह चक्ररत्न अति सामर्थ्यवानों तक को जहाँ स्वामी रूप से सर्वथा दुर्लभ है, वहीं सामान्य जनों को दर्शन तक को ।।

और तो और जड़ होने पर भी चक्रवर्ती के स्व-वंश के लोगों को जानता पहचानता सा है ।। अर्थात् चक्रवर्ती के वंश के लोगों पर वार नहीं करता ।।

यही नहीं अपितु चक्रवर्ती की चक्रवर्तित्व रूप मुख्य आजीविका का मूल कारण भी यही चक्ररत्न है ।।

साथ ही है तो चक्र/है तो जड़ किंतु, कहलाता रत्न है और अतिशयकारी इतना कि चक्रवर्ती के मनोभावों को जानता है ॥

और अंत में इस देवोपुनीत चक्ररत्न की उत्पत्ति का कारण भी सुन लें :-

ग्रंथ : श्री तिलोयपण्णत्ति जी ग्रंथकार : मुनिवर्य यतिवृषभाचार्य गाथा : १३९४

अर्थ मात्र :- पूर्व जन्म के किये तप के बल से भरतादि चक्रवर्तियों की आयुधशालाओं में लोक को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न होता है ॥

अतः यह पूजा सम्यक तप के बल से प्राप्त मनोवांछित फल षट्खंडाधिपतित्व को देने वाले देवोपुनीत अतिशयकारी चक्र रत्न की पूजा थी ॥

अथवा :-

यह प्रश्न उठने पर कि चक्र रत्न कैसा है ?

तो उत्तर है कि पूर्व जन्म के सम्यक् तप से प्राप्त और सम्पूर्ण लोक को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला ॥

मात्र लोक को नहीं अपितु स्वयं चक्रवर्ती को भी अतिशय हर्ष को उत्पन्न करने वाला ॥

यहाँ पर पूर्व जन्म के तप से प्राप्त अतिशय हर्ष से हर्षित भरत चक्रवर्ती ने संपूर्ण लोक को आश्चर्य उत्पन्न करवाने वाले उस चक्र रत्न के प्रति क्या-क्या सम्यक् लौकिक क्रियायें की, क्या-क्या उद्गार निकाले इसे श्री तिलोयपण्णत्ति कार जी ने गौण रखा है,

व जिसे श्री तिलोयपण्णत्ति कार जी ने गौण रखा है, उसी अनुक्त को श्री आदिपुराण कार जी ने प्रगट किया कि :-

चक्रवर्ती भरत ने उस जड़ चक्ररत्न की व उसके अधिष्ठाताओं की हर्ष व रोमांच से परिपूर्ण हो पूजा अर्थात् सन्मान/सत्कार किया ॥

इसमें कोई दोष भी नहीं है,

क्योंकि अविरति स्त्रियों व महाराजों (बहिरात्माओं) तक की पूजा व अर्घ समर्पण सन्मान अर्थ से स्वयं बैनाड़ा जी को भी इष्ट है ॥

जब इन बहिरात्माओं की ही पूजा व अर्घ समर्पण उन्हें इष्ट है, तो फिर सम्यक् तप से उत्पन्न चक्ररत्न व उसके अधिष्ठाताओं की पूजा से उन्हें विरोध क्यों कर होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥

जैसे मढ़िया जी में अजैन शासकों की पूजा ॥

अथवा :- यह पूजा उपकारक की की गई पूजा थी ॥

अतः आजीविका व यश को चक्रवर्ती के लिये करने वाले उपकारक देवोपुनीत चक्र रत्न की पूजा लोकाचार अवश्य है ॥

किंतु मिथ्याचार नहीं ॥

हाँ !! जो नहीं करते उनका आचार अवश्य मिथ्याचार कहलायेगा ॥

क्योंकि उपकारक दो प्रकार के होते हैं, १) लौकिक उपकारक २) धार्मिक अर्थात् अलौकिक उपकारक ॥

अलौकिक उपकारक भी सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार के हैं ॥

और लौकिक उपकारक भी सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार के हैं ॥

इन दोनों प्रकार के उपकारक का यथायोग्य विनय, सत्कार आदि करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है ॥

इन दोनों में से जो एक भी उपकारक का उपकार न मानकर विनयादि नहीं करता वही कृतघ्न है और जो कृतघ्न है वह सम्यग्दृष्टि कैसा ?

अतः सिद्ध हुआ कि श्री आदि पुराणकार श्रीमद् जिनसेनाचार्य जी का ही मत उपयुक्त व सत्य है कि भरत चक्रवर्ती ने देवोपुनीत जड़ चक्र रत्न की पूजा की ॥

यदि यहाँ बैनाड़ा जी के वचनों को प्रमाण माना जाये तो इसी विषय पर पुनः उन्हीं की शैली में कई कुतर्क उन्हीं से किये जा सकते हैं :-

१) क्या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दूसरों के राज्यों को जीतने, उन्हें अपने अधीन करने, जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके निकल सकता है ?

२) उन्हीं राज्यों को जीतने के लिए मंत्रियों के आग्रह से (त्रिदिवसीय उपवास पूर्वक) क्या जल स्तम्भन विद्या की सिद्धि का आयोजन कर सकता है ?

ग्रंथ : श्री तिलोयपण्णत्ति जी ग्रंथकार : मुनिवर्य यति वृषभाचार्य जी गाथा : १३२०

अर्थ मात्र:- वहाँ पर चक्रवर्ती मंत्रियों के आग्रह से जल स्तम्भ विद्या सिद्ध करते हैं ॥

३) क्या क्षायिक सम्यग्दृष्टि अपने ही भाई पर वह भी जमीन के छोटे से टुकड़े के लिए सुदर्शन चक्र चला सकता है ?

४) कल्पना कीजिये, जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जमीन के छोटे से टुकड़े के लिए भाई पर सुदर्शन चक्र चला सकता है, वह अन्य राज्यों को जीतने हेतु कितने हिंसक परिणामों से परिणमित रहा होगा ?

५) क्या क्षायिक सम्यग्दृष्टि अन्य चक्रवर्तियों का नाम दण्ड रत्न से मिटाकर अपना नाम वृषभगिरि पर्वत पर लिख सकता है ?

आदि ॥

बैनाड़ा जी के पास उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में सिर्फ एक ही समाधान है कि चक्रवर्ती का 'नियोग' ही ऐसा है ?

उत्तर सुनकर आश्चर्य होता है कि क्या क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वाचार के विपरीत नियोग हो सकता है ?

कदापि नहीं ॥

अतः यह उत्तर तो मिथ्या ही हुआ कि चक्रवर्ती का नियोग ही ऐसा है ॥

सच कहूँ तो चतुर्थ, पंचम गुणस्थान में उपरोक्त परिणाम आचार्य भगवन्तों ने स्वयं स्वीकार किये हैं,

हाँ !! अपने अपने गुणस्थान की रागचर्या, द्वेषचर्या, प्रमादचर्या, अविरति चर्या के परिणामों को विस्मरण कर, उन्हीं उन्हीं परिणामों में रहते हुए, किंतु वैसा नहीं मानते हुए, स्वयं की वीतराग जैसी कल्पना कर, भैंसे का ध्यान कर रहे योगी के न्याय अनुसार, स्वयं भैंसा न होते हुए भी अपने आप को भैंसा मानता हुआ जैसा यह रागी, जो यह नहीं है वैसा वीतरागी स्वयं को स्वयं में जान व समझ वीतरागी रूप मिथ्या आचरण करता है व अपने-अपने गुणस्थान के योग्य आचार्यों द्वारा बतलायी गई चर्या को ही न सिर्फ मिथ्यात्व कहता है औपेतु उन आचार्यों को भी मिथ्यादृष्टि कहते भय नहीं खाता ॥

जैसा कि बैनाड़ा जी द्वारा हो रहा है ॥

शंका :- यदि ऐसा ही है तो फिर चैत्यालय में स्थापना इन अविरति व देशविरतियों की भी करो ?

समाधान :- इसका समाधान (चर्चा-१ की मीमांसा में) दे चुके हैं :-

"यहाँ इनके (आर्यिका मातादि के) पूजातिशय की तुलना शेष असंयमी देशसंयमी आदि पात्रों के साथ भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अंतरंग भावलिंग सहित बहिरंग द्रव्यलिंग के स्वामी तीन ही कहे हैं, चौथा नहीं, अतः इन तीन के अलावा शेष सभी पात्र कारण विशेष से ही पूजातिशय को प्राप्त होते हैं, सर्वथा नहीं ॥"

अतः उपरोक्त शंका प्रासंगिक नहीं है ॥

दूसरे चैत्यालय में जिनकी स्थापना की गई है, उसमें समस्त पूजनीय गुणों का समुच्चय है ॥

अर्थात् जितने भी पूजा योग्य गुण संसार में पाये जाते हैं, उन सभी गुणों की एक तीर्थंकर प्रभु में प्राप्ति व स्थापना है ॥

एक तीर्थंकर प्रभु के आश्रय से हम उन सभी गुणों की पूजा करते हैं, अर्चना करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं ॥

यहाँ इस चर्चा में एक प्रश्न हम पीछे छोड़ आये थे :-

शंका :- पूजा में प्रयोग किये जाने वाले द्रव्य कौन-कौन से हैं, चाहे वह आराधना अर्थ वाली पूजा हो या सन्मान या सत्कार अर्थ वाली पूजा ?

समाधान :- आठ द्रव्य तो चाहे जिसकी पूजा हो अथवा चाहे जिस अर्थ वाली पूजा होगी, उसमें सामान्य होंगे ॥

वह पूजा फिर चाहे सकल निकल परमात्माओं की हो तब भी,

या फिर उत्तम अंतरात्माओं की हो तब भी,

अथवा मध्यम या जघन्य अन्तरात्माओं की हो तब भी,

यही नहीं, अविरत स्त्रियों या राजाओं अर्थात् बहिरात्माओं की की जाये तब भी, ये आठ द्रव्य इन सभी सुपात्रों अपात्रों की पूजा में सामान्य रहेंगे॥

इसके पश्चात् पात्र की विशेषता से अर्पित किये जा रहे द्रव्यों में विशेषता आती है.

अर्थात् पूज्य पात्रों की भिन्नता की अपेक्षा इन आठ द्रव्य से अन्य द्रव्य भी इन पात्रों को अर्पित किये जाते हैं,

जैसे जिनवाणी माता की पूजा अष्ट द्रव्य से होती हैं, किंतु इन आठ द्रव्यों से अन्य अर्थात् वस्त्र भी माता जिनवाणी को अर्पित करने के मंत्र जिनवाणी में वर्णित हैं॥

ठीक ऐसे ही तीर्थंकर प्रभु की पूजा अष्ट द्रव्य से अन्य छत्र, चंवर, सिंहासन आदि भी समर्पित कर की जाती है॥

अतः जिनागम में अष्ट द्रव्य मात्र से पूजन का एकान्त नहीं हैं॥

हाँ !! एकान्त आठ द्रव्यों का है कि कम से कम ये आठ द्रव्य तो होंगे ही होंगे॥

किंतु नहीं, इसमें भी अपवाद हैं,

असामर्थ्यवानों के लिये कोई नियम नहीं हैं॥ वे एक द्रव्य से अथवा बगैर द्रव्य के भी पूजा कर सकते हैं॥

इसमें भी पुनः और भी अपवाद मार्ग हैं, विस्तार भय से नहीं कह रहे हैं॥

शंका :- अब बैनाड़ा जी जैसी बुद्धि वालों के मन में एक प्रश्न उमड़ सकता है कि सकल-निकल परमात्माओं एवं उत्तम अंतरात्माओं (मुनि अर्थ में) तक तो समझ में आ गया किंतु मध्यम (सम्यक्दृष्टि श्रावक अर्थ में) एवं जघन्य अंतरात्माओं व बहिरात्माओं की पूजा अष्ट द्रव्य से कैसे की जा सकती हैं ? जैसा कि आक्षेप उन्होंने चर्चा-६ में किया है॥ यह प्रश्न पूछे जाने पर कि आगम में आर्यिकाओं की पूजा का निषेध कहाँ है, वे तर्क दे रहे हैं कि आगम में नवदेवताओं की अष्ट-द्रव्य से पूजा का विधान तो लिखा है, पर अपने पुत्र की, अपनी पत्नी की, अपनी कन्या की तथा अपनी पुत्रवधू आदि की अष्ट-द्रव्य से पूजा नहीं करनी चाहिये यह कहीं नहीं लिखा है, तो क्या इनकी भी अष्ट-द्रव्य से पूजा होनी चाहिये ?

समाधान :- अब मैं बैनाड़ा जी को क्या कहूँ, उन्हें स्वयं स्मरण नहीं है कि वे क्या लिख रहे हैं ? यहाँ चर्चा-६ में यह लिख रहे हैं और इस चर्चा-१० में स्वीकार करते हैं कि इनके लिए भी आगम में पूजा का उल्लेख है और आश्चर्य, स्वयं उन्हींके द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि पूजा का सम्मान या सत्कार अर्थ भी यदि किया जाय तो उस सम्मान या सत्कार का अर्थ व्यवहार नवधा भक्ति ही है॥

खैर !! इसे गौण कर पूजा में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों की चर्चा करें कि वे कौनसे हैं :-

इस चर्चा का उत्तर अत्यन्त सरल व हम सभी के अनुभवगम्य है॥

जिस पात्र की भी चाहे जिस अर्थ वाली पूजा करनी हो उसमें एक थाल सजानी होती हैं ॥

उस थाल में आठ द्रव्य रखे जाते हैं :- १. जल २. चंदन ३. अक्षत् ४. पुष्प ५. नैवेद्य ६. दीप ७. धूप ८. फल ॥

१) सर्वप्रथम पूज्य पात्र के पाद प्रक्षालन जल से करते हैं (इसे इसी चर्चा में सिद्ध कर चुके हैं ॥)

२) पश्चात् चंदन से भाल पर तिलक किया जाता है ॥

३) फिर उस तिलक पर अक्षत् लगाये जाते हैं व थाड़े से अक्षत् मस्तक पर छोड़े जाते हैं ॥

४) इसके बाद थाल में रखी पुष्प माला पहनायी जाती हैं ॥

५) व नैवेद्य से मुँह मीठा करवाया जाता है ॥

६) और

७) फिर थाल में रखे दीप व धूप से आरती उतारते हैं,

८) व अंत में श्री फल अर्पित करते हैं ॥

यह अष्ट द्रव्य से पूजा हमारे लौकिक जीवन का सर्व सामान्य अनुभव है ॥

इसे हम क्रम से, विपरीत क्रम से या अक्रम से, चाहे जैसे करते हैं ॥

इन अष्ट द्रव्यों से पूजन करते समय हमें स्वप्न में भी कभी मिथ्यात्व का आभास नहीं होता ॥

होता हो तो कहो ?

मात्र ये आठ द्रव्य ही नहीं, अपितु अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार वस्त्रादि भी पात्र भेद अनुसार पात्रों को भेंट किये जाते हैं ॥

व जो द्रव्य हम समर्पित करना चाहते हैं, किंतु कारण वशात् समर्पित नहीं कर पाते हैं, तो उसके लिये कुछ नगदी भी पात्र को आदर पूर्वक भेंट करते हैं ॥

इस समूचे को अर्घ कहते हैं ॥

अर्घ का अर्थ है मूल्यवान अर्थात् उत्तम जाति के ॥

अर्थात् ये द्रव्य उत्तम जाति के होते हैं, जिसे कि ग्रंथांतरों में दिव्य शब्द से भी कहा जाता है, जैसे :-

दिव्वेण गंधेण अर्थात् दिव्य गंध से ॥

क्या इस तरह की पूजा प्रिय बैनाड़ा जी आपकी कभी नहीं हुई ?

हुई तो होगी ?

और होने पर करवाते हुये स्वयं के प्रति या करने वाले के प्रति स्वप्न में भी कभी मिथ्यात्व बुद्धि हुई क्या ?

नहीं न ?

कृपया स्मरण रखें कि सभी पात्रों की पूजा में बाह्य द्रव्यों में तो साम्य हो सकता है, किंतु बाह्य

द्रव्यों में साम्य होने से पूज्य पुरुषों में साम्य नहीं हो जाता, वह अंतर अंतरंग भावों में बना रहता है,

अतः अंतरंग भावों में अंतर पूर्वक बाह्य नवधा भक्ति दोष को कारण नहीं है, बाह्य नवधा भक्ति में अंतर नहीं होने से अर्थात् बाह्य नवधा भक्ति रूप क्रियाओं में साम्य होने से अंतरंग पात्रों की पात्रगत भिन्नता में भी अंतर नहीं होगा ऐसा नियम नहीं है,

वह भिन्नता तो अंतरंग में बनी रहती है जो कि उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्र रूप हैं ॥

अतः सिद्ध हुआ कि प्रथमानुयोग में सुपात्रों के लिये किया गया पूजा शब्द का अर्थ उच्चासन, नमस्कार, पादप्रक्षालन, जयमाला वाचन व अर्घ समर्पण है ॥

यह पूजा वर्तमान में पुण्य बंध पूर्वक परंपरा से मुक्ति की ही कारण है ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ९ (चर्चा १० समन्वित)

शंका :- क्या अशुचि अवस्था में आर्यिका माताओं को पिच्छी ग्रहण करने की आगम की आज्ञा है ?

समाधान :- यहाँ अर्थात् इस चर्चा विशेष में तो आदरणीय बैनाड़ा जी का अत्यन्त विचित्र रूप प्रकट हो रहा है ।।

वे यहाँ अजितमति साधना स्मृति ग्रन्थ में पं. प्रवीणचन्द्र जैन द्वारा (सल्लेखनाधारी) क्षुल्लिका अजितमति माताजी जो कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज द्वारा दीक्षित अंतिम शिष्या थी, के लिये गये साक्षात्कार का अंश प्रगट कर रहे हैं ।।

इस साक्षात्कार का सार श्री बैनाड़ा जी के अनुसार निम्न हैं :- ''आचार्य श्री (चा.च.पू.आचार्य शांतिसागर जी महाराज के संघ में) क्षुल्लिकायें, आर्यिकायें अशुचि अवस्था में पिच्छियाँ ग्रहण नहीं करती थी ।।

और आगम आज्ञा के नाम पर वे न तो किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों का ही उल्लेख कर पाये न ही किन्हीं टीकाकारों का ।।

आगम के नाम पर वे प्रस्तुत कर रहे हैं सन् १९९१ में छपे अजितमति साधना स्मृति ग्रन्थ व जैन गजट को ।।

हास्यास्पद नहीं है यह ?

यही नहीं,

ठीक इस चर्चा के बाद की चर्चा कि ''आगम परंपरा व गुरु परंपरा में कौनसी परंपरा ग्रहणीय है ?'' में वे कह रहे हैं कि ''गुरु परंपरा की बजाय आगम परंपरा का अनुसरण श्रेष्ठ है ।।''

और यहाँ इस चर्चा में बगैर एक भी प्राचीन आगम परंपरा को प्रमाण रूप प्रस्तुत कर मात्र गुरु परंपरा का उल्लेख कर रहे हैं व आज्ञा रूप निवेदन कर रहे हैं कि...अशुचि अवस्था में पिच्छिका ग्रहण नहीं करती थी (अतः पिच्छी ग्रहण करने वाली आर्यिकाओं का मार्ग अप्रशस्त है ।।)

यही नहीं, गुरु परंपरा के विधान को भी विकृत कर प्रस्तुत कर रहे हैं, (जिसे कि हम आगे कहेंगे ।।)

आश्चर्य होता है कि सवस्त्र भट्टारकों को सर्वथा हीन दृष्टि देखने वाले व उनके आगम अनुसार कहे गये कथनों को भी आगम बाह्य कहने में नहीं झिझकने वाले बैनाड़ा जी एक सवस्त्र पंडित के वचनों को आगम अर्थों में प्रस्तुत कर रहे हैं ।।

और वे भी वचन कैसे ?

कि जिनका साक्षात्कार लिया गया है उनके समाधि-मरण के पश्चात् मुद्रित हुआ ॥ अर्थात् तब, जब कि उस साक्षात्कार की प्रामाणिकता की सिद्धि का उपाय नहीं रह गया ॥

पाठक गण स्वयं विचार करें, सल्लेखना के अंतिम दिनों में संबोधन को जाया जाता है या साक्षात्कार को ?

यदि साक्षात्कार को भी जाया जाता है तो विशुद्धि व साधना से संबंधित विषयों पर चर्चा की जाती है या कोई और ?

और यदि विशुद्धि व साधना से अन्य प्रश्न पूछे जाते हैं तो उसका सीधा सा अर्थ है कि चर्चा करने वाला वाक् पटु है...

देखिये पं. प्रवीणचंद्र जी क्या पूछते हैं :-

''रजस्वला अवस्था में आर्यिका या क्षुल्लिकाओं को पिच्छी लेने के लिए आचार्य महाराज की अनुमति थी या नहीं ?''

पाठकगण विचार करें कि क्या यह प्रश्न प्रासंगिक था ?

नहीं न ?

खैर !!

आइये, अहिंदी भाषी क्षुल्लिका माताजी का उत्तर देखें :-

''नहीं, हम लोग उस अवस्था में मृदु वस्त्र इस्तेमाल करते थे ॥''

इसी उत्तर द्वारा प्रिय बैनाड़ा जी विधान बना रहे हैं कि अशुचि काल में आर्यिका माताओं द्वारा भी पिच्छी रखना चा. च. आचार्य महाराज को मान्य नहीं था ॥

जब कि ऊपर क्षुल्लिका माताजी का आशय था कि नहीं, हम अर्थात् हम क्षुल्लिकाओं को ॥

अर्थात् अशुचि अवस्था में मात्र क्षुल्लिकायें संघ में मृदु वस्त्र ग्रहण करती थी ॥

खैर !!

हमें तो आश्चर्य इस बात पर हो रहा है कि स्वयं को परीक्षा प्रधानी कहने व समझने वाले बैनाड़ा जी ने बगैर अन्य प्रमाणों को सम्मुख रखे, मात्र उपरोक्त एक संस्मरण के आश्रित हो यह विधान या धारणा कैसे बना ली ? कहीं ऐसा तो नहीं कि वे परीक्षा प्रधानी नहीं, परीक्षा प्रधानाभासी हैं ? क्योंकि परीक्षा प्रधानी का तो यह लक्षण है ही नहीं ॥

बेहतर होता निर्णय लेने के पूर्व वे चारित्र चक्रवर्ती द्वारा दीक्षित, प्रशंसित, विश्वस्त व उन्हीं के द्वारा पट्टाचार्य पद पर आसीन आचार्य वीरसागर जी महाराज द्वारा दीक्षित चारों अनुयोग पारंगत विदुषी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी से ही चारित्र चक्रवर्ती द्वारा निरूपित आर्यिकाओं के लिये अशुचि काल का विधान, जो कि उन्हें प्रथम पट्टाचार्य दीक्षा गुरु के द्वारा प्राप्त हुआ वह क्या था व उसका आगमोक्त समाधान क्या है का स्पष्टीकरण करवा लेते ॥

अर्थात् गुरु परम्परा व आगम परम्परा दोनों ही परम्पराओं का सम्यक् बोध उनसे हो सकता था ॥

किन्तु नहीं,

उन्हें तो सवस्त्र पंडित ही प्रमाण है ॥

बैनाड़ा जी को स्वप्न में भी शायद ख्याल नहीं होगा कि एक पंडित को प्रामाणिक कह उन्होंने प्रथम पट्टाचार्य वीरसागर जी महाराज पर ही अंगुली ऊठा ली ॥

मेरा पाठक वर्ग से सिर्फ यही निवेदन है कि उनका यह दुस्साहस क्या सहनीय है ?

नहीं न ?

बैनाड़ाजी को तो अपनी प्रकृति वश प्रायः निर्णयों की हड़बड़ी रहती है ॥ हड़बड़ी रहती है इसीलिये न तो उन्होंने पं. प्रवीणचन्द्रजी की परीक्षा की कि लिये गये साक्षात्कार को निज चिंतवन व भाषा अनुसार लिख, संपादिका/संपादक तक पहुंचाया अथवा साक्षात्कार जैसा लिया था ठीक वैसा ही व उन्हीं अर्थों में मुद्रित करवाया,

और न ही, उन्होंने साक्षात्कार पढ़ जो अर्थ ग्रहण किये उन अर्थों की ही परीक्षा की ॥

अतः आइये, उन ग्रहण किये गये अर्थों की आगम परिप्रेक्ष्य में मीमांसा करें :-

जैसा कि पूर्व की चर्चाओं में सिद्ध किया जा चुका है कि आदरणीय बैनाड़ा जी को स्वीकार है कि आर्यिका माताओं पर आरोपण महाव्रतों का होता है ॥

उन्हें एक देश दूषण दिखलाई भी देते हैं तो सिर्फ चार :-

१) अचेलकत्व २) ठिदि भोजन

३) अशुचि अवस्था के पश्चात् प्रत्येक माह प्रायश्चित रूप स्नान

४) कांख आदि स्थानों में सूक्ष्म जीवोत्पत्ति

अर्थात् इन चार के अलावा महाव्रतों के शेष भेद आर्यिका माताओं में बैनाड़ा जी को निर्दोष स्वीकार है।

अब हमारा प्रश्न प्रिय बैनाड़ा जी से यह है कि क्या रजस्वला काल में आर्यिका माताओं के अंतरंग समितियों का अभाव हो जाता है ?

यदि नहीं, तब फिर पिच्छी क्यों छुड़वाई जाती है ?

जबकि पिच्छी न तो व्रत है और न ही समिति ॥

अपितु वह तो अंतरंग व्रत व समिति के निर्दोष पालन हेतु बाह्य उपकरण मात्र है ॥

इस पिच्छी को छुड़वाकर क्या आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनके अंतरंग समितियों का रजस्वला काल में अभाव हो जाता है ?

क्या रजस्वला काल में अंतरंग समितियों का अभाव हो जाता है ?

क्या रजस्वला काल में अंतरंग समितियों का अभाव सिद्ध करने वाले सूत्र जिनागम में उपलब्ध हैं ?

नहीं न ?

जब समितियों के अभाव के सूत्र ही जिनागम में उपलब्ध नहीं है तो फिर उन समितियों के निर्दोष पालन में निमित्तभूत उपकरण पिच्छी कैसे छुड़ाई जा सकती है ?

अर्थात् नही छुड़वाई जा सकती ।।

कहने का अर्थ मात्र इतना ही है कि पिच्छी छुड़ाने के पूर्व आपको सिद्ध करना होगा कि उनके रजस्वला काल में समितियों का अभाव होता है।।

बगैर अंतरंग समितियों का अभाव सिद्ध किये पिच्छी छुड़वाई ही नहीं जा सकती ।।

अतः बैनाड़ाजी आगम परंपरानुसार तो आप पिच्छी छुड़वा ही नहीं सकते हैं।

और रही गुरु परंपरा की बात, तो वह भी सुन लीजिये :-

"चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज के संघ में अशुचि अवस्था में आर्यिका माताओं के लिये नहीं अपितु क्षुल्लिका माताओं के लिए मृदु वस्त्र का विधान था ।। (जैसा कि क्षुल्लिका माताजी का कहने का आशय था ।।

(नारी बनो सदाचारी से, लेखिका विदुषी आर्यिका विशुद्धमति माताजी, चा. च. द्वारा दीक्षित व द्वितीय पट्टाचार्य शिवसागरजी महाराज की शिष्या)

अर्थात् पिच्छी आर्यिका मातायें नहीं, क्षुल्लिका मातायें ग्रहण नहीं करती थी।

वैसे भी आगम में भी क्षुल्लक व क्षुल्लिका माताओं के लिए मृदु वस्त्र का ही विधान है, पिच्छी का नहीं ।।

ग्रंथ : सागार धर्मामृत ग्रंथकार : पं. प्रवर आशाधरजी अध्याय ७/३९

स्थानादिषु प्रतिलिखेदं, मृदुष्करणेन सः ।।

अर्थ :- वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक प्राणियों को बाधा नहीं पहुँचाने वाले कोमल वस्त्रादिक उपकरण से स्थानादिक में शुद्धि करें ।।

ग्रंथ : श्री वसुनन्दि श्रावकाचार जी ग्रंथकार : मुनिवर्य वसुनंद्याचार्य श्लोक ३११

एमेव होइ विदिओ णवरि विसेसो क्रणिज्ज णियमेण ।
लोंचधरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ।।

अर्थ :- प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लकजी) के समान ही ये द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक जी) होते हैं, केवल विशेष यह है कि उसे नियम से केशों का लुंचन करना चाहिए, पिच्छी रखनी चाहिये और पाणिपात्र अर्थात् अंजुलि में भोजन ग्रहण करना चाहिए ।।

अर्थात् :- पिच्छी, केशलोंच व पाणिपात्र में भोजन ये तीन नियम ऐलक महाराज के लिए है, क्षुल्लक महाराजों के लिये नहीं ॥

किन्तु चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने इनमें साधुत्व (कुंदकुंदाचार्य जी के अनुसार जिनलिंगी) की सिद्धि के लिये पिच्छी धारण करवायी थी, ताकि पिच्छी के अभाव में कहीं सामान्य जन इन्हें अतिथि, अनगार, वनवासी मानने से भ्रमित न हो जायें ॥

यह व्यवस्था सामयिक (वर्तमान काल के) कुटिल बुद्धियों को दृष्टि में रखकर की गई थी व आज भी पल रही है ॥

आश्चर्य है, जो सामयिक व्यवस्था थी उससे तो आपका कोई विरोध नहीं है, किंतु जो आगमोक्त व्यवस्था थी कि रजस्वला काल में आर्यिका माताओं के अंतरंग समितियों का अभाव नहीं होता अतः पिच्छिका धारण करना चाहिये, से आपका विरोध है ॥

धन्य हैं आप ॥

निष्कर्ष :-

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आर्यिका माताओं के दीक्षा ग्रहण के काल से लेकर अंतिम समय तक त्रैकालिक समितियाँ वर्तती हैं ॥

चूंकि त्रैकालिक समितियाँ वर्तती हैं अतः उन समितियों का बाह्य अवलंबन पिच्छिका भी सदैव नियामक है ॥

पिच्छिका का अभाव कर दें तो समितियाँ कैसे पलेंगी ?

अर्थात् नहीं पलेंगी ॥

इसलिये कहा गया है कि समिति धारियों को पिच्छिका का अभाव करके सात हाथ गमन भी नहीं हो सकता ॥

अतः अंतरंग समितियों की धारी आर्यिका माताओं में अशुचिकाल में भी पिच्छी धारण करने का विधान ही प्रशस्त व सम्यक् है ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : ११

शंका :- क्या आर्यिका यदि अर्घ चढ़वाकर ही आहार करें, तो उसकी चारित्र की विशुद्धि में कोई अंतर पड़ता है ?

समाधान :- इस चर्चा का एक अत्यन्त कटु और अक्षम्य अंश चर्चा ६ की मीमांसा में बैनाड़ा जी ने लिया है ॥

यह अंश मुझे प्राप्त परिपत्रक में से तो छाँट लिया गया है, किंतु छाँट प्रक्रिया के पूर्व बैनाड़ा जी के यथार्थ अंतस् को सूचित करने वाले भावों के निदर्शक रूप अध्यात्म पर्व पत्रिका, झाँसी, अंक अगस्त २०००, पृष्ठ ४६ पर छपा है ॥

देखिये यह अंश :-

"यह बात कितनी विचित्र लगती है कि उपचार से महाव्रत धारण करने वाली आर्यिकाओं को अपनी पूजा, परिक्रमा आदि बाहा मान-मर्यादा का इतना अधिक आग्रह है कि जहाँ इस प्रकार उनकी भक्ति का प्रदर्शन न हो वहाँ के सुश्रावकों से शुद्ध आहार लेना भी उन्हें स्वीकार नहीं होता ॥ जो जबरन अपने अर्घ चढ़वायें (अर्थात् चढ़वाना चाहे) अपनी नवधा भक्ति करवाये, क्या उसे आर्यिका वन्दा जा सकता है ?"

निश्चित ही उपरोक्त वक्तव्य अक्षम्य है ॥

स्वयं बैनाड़ा जी को भी अपना यह वक्तव्य मन में रखने योग्य जरूर लगा होगा, किंतु प्रचारित करने योग्य नहीं ॥

प्रचारित करने योग्य नहीं लगा होगा इसीलिए बाद के परिपत्रकों में इसे छाँट दिया गया ॥

किंतु जैन धर्म अतिशयकारी है, इसका अतिशय ही है कि आप अपने अंतस् के यथार्थ कुटिल मनोभावों को छिपा कर रख न पाये, वे प्रगट हो ही गये ॥

इसी संदर्भ में स्खलन स्वभावी बैनाड़ा जी इस चर्चा ११ में पुनः स्खलित होते हैं ॥

वे कह रहे हैं कि :-

"अर्घ चढ़वाने पर ही यदि कोई आर्यिका आहार ग्रहण करती है तो उससे उस पर आर्यिका के गुणस्थान में या चारित्र की विशुद्धि में कोई अंतर नहीं पड़ता...."

मुझे पढ़ कर लग रहा है कि अन्योक्ति अलंकार के जरिए इस परिपत्रक के माध्यम से वे कहना मुनियों से चाह रहे हैं, किंतु मुनियों से सीधे-सीधे कहने हेतु गुजरात के कानजी भाई जैसे दुःसाहस का अभाव होने के कारण सीधे न कह कर, आर्यिका माताओं का अवलम्बन लेकर कह रहे हैं ॥

जैसा कि मुनिवर्य गुणभद्राचार्य जी श्लोक १४२ श्री आत्मानुशासन जी में सुना तो मलिन चन्द्रमा को रहे हैं, किंतु उलाहना स्खलित मुनि को दे रहे हैं ॥

ठीक इसी प्रकार वे उलाहना आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों को देना चाह रहे हैं, किंतु कह आर्यिका माताओं से रहे हैं ॥

पाठक गण स्वयं विचार करें कि जो उलाहना वे आर्यिका माताओं पर दे रहे हैं, क्या वही मुनिराजों पर भी नहीं दिया जा रहा है ?

सुनिये :-

"हे मुनिराजों !! नवधा भक्ति पूर्वक आहार लेना व्यर्थ है ॥ यह नवधा भक्ति करवाने का भाव (अर्थात् जिस चौके में न हो वहाँ से लौट आने का भाव) तो मद है ॥ इसका आपके गुणस्थान व चारित्र की विशुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं ॥"

अर्थात् बैनाड़ाजी अंतिम अपने इस वक्तव्य में कहना चाह रहे हैं कि जिस चौके में नवधा भक्ति हो, वहाँ ठीक, किंतु जो सुश्रावक (यह शब्द बैनाड़ा जी का ही प्रयोग किया हुआ है) नवधा भक्ति ना करे उनके यहाँ भी आहार ग्रहण कर लेवे ॥ क्योंकि जो मुनि जबरन अर्घ चढ़वाये, अपनी नवधा भक्ति करवाये, क्या उसे मुनि कहा जा सकता है ?

बहुत सुन्दर बैनाड़ा जी, बहुत सुन्दर ॥

अन्योक्ति अलंकार का इतना सटीक प्रयोग संसार में दुर्लभ है ॥ धन्य हैं आप ॥ आपके इन्हीं तर्कों का आश्रय लेकर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि श्रावकों को षट् आवश्यक में प्रथम देव पूजा का उपदेश भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि भगवान अपने मुँह से क्यों कहेंगे कि हमारी पूजा करो ? जैसा कि आपने पूर्व में भट्टारकों पर आरोप दिया था वही आरोप अन्योक्ति अलंकार के तहत् मुनियों पर भी लगेगा कि जिनके चित्त में अपनी पूजा करवाने के भाव थे, ऐसे मुनियों ने तीर्थंकर प्रभु का आश्रय ले उनका उपदेश कह उनकी पूजा पूर्वक अपनी पूजा का विधान बना दिया ॥ वस्तुतः पूजा का उपदेश पूज्य तो दे ही नहीं सकता ॥

धन्य हो बैनाड़ा जी ॥

क्या दूर की कौड़ी लाये हो ॥

शायद गुजरात के कानजी भाई की तरह आप भी स्वाध्याय प्रेम के कारण पूजा प्रकरण से मुक्त होना चाहते हैं व स्वयं को सम्यग्दृष्टि भी कहलवाना चाहते हैं ॥

संसार में वाकई आपका सानी कोई भी नहीं ॥

कहना चाह रहे हो किसी और को, और कह रहे हो किसी और से ॥

इसी को आम भाषा में कहते हैं, कहीं पर निगाहें, कहीं पर निशाना ॥

मैं आशा (?) करता हूँ आचार्य भगवंत आपके बतलाये मार्ग पर गौर करेंगे व आपके ही दिशा निर्देश पर चलेंगे ॥

निकट भविष्य (?) में आप अपनी, कानजी भाई की तरह, असंयम मार्गणाधीन (!) पर्याय में कलिकाल गणधर की उपाधि से नवाजें जायें, इन्हीं शुभकामनाओं (?) सहित.....

किंतु नहीं !!

यहाँ पुनः एक प्रश्न उपस्थित हो रहा है,

और वह यह कि आर्यिका माताओं ने और मुनिराजों ने जो मूलगुण ग्रहण किये, वे पूज्य और पवित्र थे, इसलिए ग्रहण किये या अपूज्य व अपवित्र थे इसलिए ?

निश्चित ही पूज्य व पवित्र थे इसलिये ॥

अर्थात् श्रावकों की तरह स्वयं मुनिराजों में भी अपने द्वारा ग्रहण किये गये मूलगुणों में पूज्यता व पवित्रता की बुद्धि होती है ॥

यदि पूज्यता व पवित्रता की बुद्धि ना हो तो वे ग्रहण ही क्यों करें ?

अतः जिन श्रावकों के मन में ग्रहण किये गये गुणों के प्रति श्रद्धा, पवित्रता व पूज्यता की बुद्धि है, उन्हीं के हाथ से आहार लेते हैं, अन्य के हाथ से नहीं ॥

यही श्रद्धा, पवित्रता व पूज्यता की बुद्धि ही भविष्य में श्रावकों को भी इन्हीं गुणों से मंडित होने को कारण बनती है,

जिनकी इन गुणों में श्रद्धा, पवित्रता व पूज्यता की बुद्धि नहीं होती वे स्वप्न में भी इन गुणों से मंडित होने का विचार नहीं करते ॥

इसीलिए मुनिगण व आर्यिका मातायें एवं उत्तम श्रावक श्राविकायें, जिनके मन में इनके द्वारा ग्रहण किये गये गुणों के प्रति उपादेय अर्थात् कुंदकुंदाचार्य जी अनुसार इच्छाकार बुद्धि है, उसकी परिचायक नवधा भक्ति करने वालों से ही आहार लेते हैं, अन्य से नहीं ॥

आदरणीय बैनाड़ा जी के चित्त में भी यह इच्छाकार बुद्धि हो, ऐसी तीर्थंकर प्रभु से प्रार्थना सहित,

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : १२

शंका :- आर्यिकाओं के लिये समवशरण में कोठे का विधान ?

समाधान :- इस शंका के समाधान में प्रियबैनाड़ा जी निष्कर्ष दे रहे हैं कि स्त्रियों में आर्यिकाओं को और श्राविकाओं को समवशरण में एक ही कोठा दिया गया है, जो इस बात का परिचायक है कि आर्यिकायें मुनितुल्य नहीं है ॥

तात्पर्य यदि मुनितुल्य होती तो उनका भी एक कोठा पृथक् होता मुनिराजों की तरह ॥

वाह बैनाड़ा जी,

क्या दूर की कौड़ी लाये हो ॥

आर्यिकाओं का द्वादश कोठों में श्राविकाओं से पृथक् कोठा ही नहीं है,

यह सिर्फ इस सत्य का ही परिचायक नहीं है कि वे मुनितुल्य नहीं है, अपितु इस बात का भी परिचायक है कि आर्यिकायें श्राविकाओं से भिन्न नहीं बल्कि श्राविकायें ही हैं, श्राविकाओं से विशेष नहीं ॥

क्योंकि यदि वे श्राविकाओं से विशेष होती तो श्राविकाओं के कोठे में उन्हें क्यों बैठाया जाता ?

क्या श्राविकाओं से अन्य कोठा नहीं दिया जाता ?

निश्चित दिया जाता ॥

किन्तु नहीं दिया गया ॥

वाह बैनाड़ा जी, वाह, मान गये आपको ॥

अब आपके पास तीन कार्य हैं :-

१) आर्यिकाओं के महाव्रतों का निषेध, क्योंकि वे असंयम मार्गणाधीन हैं ॥

२) आर्यिकाओं के नवधा भक्ति का निषेध, क्योंकि वे असंयम मार्गणाधीन हैं ॥

३) धर्म सभा में आर्यिकाओं के उच्चासन के स्थान पर आम श्राविकाओं व असंयत स्त्रियों के साथ बैठवाना ॥

चूंकि वे असंयम मार्गणाधीन (!) हैं और समवशरण अर्थात् धर्म सभा में उनका पृथक् कोठा ही नहीं ॥

अतः जैसे धर्म सभा में प्रतिमाधारी व असंयमी श्रावकों ही समान रूप से बैठती हैं बगैर उच्चासन आदि का भेदभाव किये, ठीक उसी प्रकार आर्यिकाओं को भी उन्हीं के मध्य उन्हीं का बनाकर बैठवाने का महत् आयोजन आपको करना है ॥

नहीं तो समाज इन्हें साध्वी साध्वी (साधु अर्थों में (कहकर इनके चरणों में श्रद्धा भक्ति सहित दर्शन विनय को लौटती रहेंगी ॥

क्यों, ठीक है ना बैनाड़ा जी ?

किंतु नहीं,

अपने पक्ष को सबल करने के लिए कृपया निम्न लिखित प्रश्नों की भी तैयारी कर लीजिए ॥

वरना कहीं ऐसा न हो जाये कि आप दिग्गज आचार्यों के सन्मुख अपनी मीमांसा लेकर जायें, व उनके द्वारा आपकी मीमांसा में आपकी ही शैली अनुसार बाधा प्रस्तुत किये जाने पर आप तैयारी के अभाव में इतना सा मुंह लेकर लौट आयें ॥

अतः विचार करें, सतत विचार करें कि :-

जिन ग्रंथराज श्री तिलोयपण्णति जी का आश्रय लेकर आप समवशरण व्यवस्था पर मीमांसा कर रहे हैं, उसी ग्रन्थराज में आर्यिकाओं की संख्या शेष अभी श्राविकाओं से भिन्न-भिन्न गिनवाई गई हैं ॥

यदि दोनों एक ही होते तो क्या दोनों की संख्या संयुक्त नहीं गिनवाई जाती ॥ किंतु नहीं गिनवाई गई ॥

इसका अर्थ हुआ कि वे श्राविकाएं नहीं हैं ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि वे श्राविकायें व मुनि दोनों ही नहीं है तो फिर क्या हैं ?

तब उत्तर मिलता है कि आर्यिकायें हैं ॥

इस उत्तर पर पुनः प्रश्न उठता है कि ये तो आर्यिकाएँ हैं श्राविकायें नहीं, जब ये श्राविकायें ही नहीं है, तब फिर श्राविकाओं के कोठे में क्यों बैठाई गई हैं ?

पुनः प्रश्न उठेगा कि ये लिंगी है या निर्लिंगी ?

तो उत्तर है कि लिंगी ॥

इस पर पुनः प्रश्न उठेगा कि यदि ये लिंगी है तो फिर इन्हें निर्लिंगियों के कोठे में क्यों बिठवाया ?

संभवतः बैनाड़ाजी यहाँ उत्तर दे सकते हैं कि असंयमी हैं ॥

अर्थात् आर्यिकाएँ, आर्यिकाएँ होने के उपरांत भी असंयमी है, इसीलिए अन्य असंयमियों के साथ बैठवायी गयी है ॥

यहाँ पुनः प्रश्न उठेगा कि यदि बैठवायी गयी है तो गिनवाई क्यों नहीं गई ?

अर्थात् यदि वे असंयमी हैं, इसलिये असंयमियों के साथ बैठवाई गई हैं, तो फिर असंयमियों के साथ संयुक्त रूप से गिनवाई क्यों नहीं हैं।

इनकी संख्या पृथक् से कहने का कोई न कोई आशय, आचार्य भगवंतों का अवश्य ही होगा.....

और चूंकि इनकी संख्या समूची उपस्थित स्त्रियों से पृथक् आदर सूचक शब्द सव्वविरतो विशेषण सहित दर्शाई गई है, अतः क्या स्त्रियों के कोठे में पृथक् कोठे रूप उप कोठे में इनकी स्थापना नहीं की गई होगी ?

अर्थात् स्त्रियों के कोठे का एक भाग, मात्र आर्यिका माताओं के लिये पृथक् से सुरक्षित नहीं रखा गया होगा क्या ?

वह भाग जो कि होगा स्त्रियों के कोठा का ही एक संविभाग, किन्तु पृथक् कोठे रूप ॥

जैसा कि प्रत्येक व्यवस्था उपव्यवस्था पूर्वक होती है, रहित नहीं यह सामान्य नियम है ॥

अतः जिनकी संख्या ही पृथक् है, जिनका विशेषण पृथक् है व चर्चा भी पृथक् है, उनकी व्यवस्था भी पृथक् स्वतंत्र कोठे रूप मुख्य कोठे में उप व्यवस्था रूप होगी ही ॥

और जिनके लिये विशेषण ही आदर सूचक है उनकी व्यवस्था भी आदर सूचक ही होगी इसे अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं ॥

और बैनाड़ा जी स्मरण रखिये, स्थान एक हो जाने से वहाँ स्थित पात्र भी एक हो जाते है ऐसा नियम नहीं है ॥

क्योंकि ऊपर गंधकुटी में ही तीर्थंकर प्रभु के साथ ही ३२ यक्ष युगल चंवर लिये हुए हैं ॥

यदि एक ही स्थान के होने से पात्र भी समान जाति के होंगे का नियम बना लेंगे तो उन ३२ यक्ष युगलों को भी तीर्थंकर ही कहना होगा ॥

किंतु नहीं, ये तीर्थंकर तो नहीं है ॥

अतः सिद्ध हुआ कि स्थान समान होने पर भी अत्रमान पात्र असमान ही रहते हैं और दोनों की स्थिति अपने-अपने पद के अनुसार होगी है, जिसे कि उप व्यवस्था कहते हैं ॥

और इसी को यदि सूत्र में कहा जाये तो कहा जायेगा :-

"अर्पितानर्पित सिद्धे ॥"

यही नहीं,

फिर तो बाधा चक्रवर्ती की उपस्थिति से भी आ जायेगी।

क्योंकि नियम है कि समवशरण में कई ऋद्धिधारी मुनियों की उपस्थिति में दिव्य ध्वनि नहीं खिरती किन्तु चक्रवर्ती की उपस्थिति में खिर जाती है, तो जिन ऋद्धिधारी मुनियों की उपस्थिति में दिव्य ध्वनि नहीं खिरती, उनसे क्या यह चक्रवर्ती बड़ा हो गया ?

आपकी तर्क शैली अनुसार यदि चिंतवन किया जाये तो निश्चित ही, ऋद्धिधारी मुनियों से तो चक्रवर्ती ही बड़ा सिद्ध होता है ॥

किंतु क्या ऐसा है ?

नहीं न ?

यही नहीं,

बाधा तो फिर सौधर्म इन्द्र की भी उपस्थिति से भी आयेगी ॥

वह इसलिए कि समवशरण में शासन भले ही तीर्थंकर प्रभु का हो, किंतु अनुशासन तो सौधर्म इन्द्र का ही है ॥

यहाँ तक कि कौन सा कोठा किनके लिए है यह निश्चित करने वाला भी सौधर्म इन्द्र ही है ॥

यह व्यवस्था तीर्थ परंपरा की अपेक्षा अनादि कालीन है, किंतु वर्तमानकाल की अपेक्षा जैसे तीर्थ कर्ता वर्तमान तीर्थंकर होते हैं, उसी प्रकार उस काल में स्थित समवशरण का अनुशासक सौधर्म इन्द्र होता है ॥

चूंकि सभी मुनिवर्य भी उसी सौधर्म के अनुशासन में हैं तो क्या सौधर्म मुनियों से बड़ा हो जाता है ?

नहीं न ?

किंतु नहीं, बैनाड़ा जी आपकी शैली का अनुसरण करने पर निष्कर्ष तो उपरोक्त ही आयेगा, अन्य नहीं ॥

खैर !!

बैनाड़ा जी, मैं तो थोड़ी देर के लिए प्रतिपक्षी हो गया था ॥

प्रतिपक्षी होकर ही मैंने कुछ संभावित बाधायें आपके सामने आपका अपना बनकर रखी हैं ॥

और चूंकि इन्हें उपस्थित अन्य स्त्रियों को नहीं दिये गये ऐसे उत्तम आदरणीय ''सव्वविरदो'' विशेषण से मंडित किया गया है, अतः यह भी स्वतः ही सिद्ध है कि कोठा एक होने पर भी ये शेष पात्रों में से नहीं, उनसे भिन्न हैं''

मात्र भिन्न नहीं अपितु आदरणीय, माननीय भी हैं ॥

यदि नहीं होती तो अन्य उपस्थित स्त्रियों को नहीं दिये गये ऐसे ''सव्वविरदो'' विशेषण से इन्हें अलंकृत ही नहीं किया जा सकता था ?

अतः सिद्ध हुआ कि ये शेष स्त्रियों से भिन्न हैं, भिन्न होने से ही इनकी व्यवस्था भी उसी कोठे में उप व्यवस्था रूप से पृथक की गई होगी, स्वतंत्र कोठे रूप ॥

अतः जो अन्य नहीं है अन्यों से गुणाधिक्य है, इनकी व्यवस्था भी उनके गुणों के अनुसार अधिक ही होगी, उसे स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं आती ॥

अभी तो बाधायें और भी हैं ॥

किंतु इतनी तैयारी तो कर ही लो, ताकि समाज, आचार्यों के सम्मुख चर्चा को प्रस्तुत होने पर आप अनुत्तरित होकर इतना सा मुंह ले लौटने को बाध्य ना हो जाओ ॥

शुभकामनाओं सहित ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

चर्चा : १३

शंका :- क्या आर्यिकाओं द्वारा आचार्य या मुनिराज के चरण स्पर्श करना आगम सम्मत है ?

समाधान :- इस विषय पर विस्तार से चर्चा फिर किसी लेख में स्वतंत्र रूप से करेंगे, किंतु यहाँ बैनाड़ा जी के हास्यास्पद निष्कर्षों पर चर्चा करना हम अवश्य चाहेंगे ॥

सर्व प्रथम तो भगवान की प्रतिमाजी के विषय में ॥

इस संपूर्ण चर्चा में उन्होंने आचार्य और मुनिराज, ये दो पात्र तो कहें, किंतु देव प्रतिमा नहीं कही ॥

तो क्या आचार्य या मुनिराज के चरण स्पर्श ना करें, प्रतिमा जी के कर लेवे, ऐसा ?

हमेशा की तरह यहाँ भी बैनाड़ा जी अपने निष्कर्षात्मक व जैनावलंबियों को दिशा निर्देश देने का दंभ भरने वाले वक्तव्यों में इस विषय के महत्वपूर्ण अंग की कल्पना तक करने से चूक गये ॥

हास्यास्पद नहीं है यह ?

है न ?

यहाँ वे यह भी नहीं कह सकते कि आचार्य या मुनिराज में इन्हें अर्थात् भगवान् की प्रतिमाजी को गर्भित कर लिया गया हैं,

क्योंकि दोनों के ही सूत्र व नियम भिन्न-भिन्न हैं। । दोनों एक नहीं हैं ॥

मुनिराजों व आचार्यों के आलय (घर) का अभाव है, तो अरिहंतों का आलय (घर) होता है, जिसे देवालय या चैत्यालय कहते हैं ॥

मुनिराजों के चंवर का अभाव है, जबकि अरिहंतों के एक, दो नहीं बल्कि ३२ युगल अर्थात् ६४ यक्ष चंवर ढुराते हैं ॥

मुनिराजों के रत्न जड़ित सिंहासन का अभाव है जबकि अरिहंतों की रत्न जड़ित सिंहासन पर ही स्थापना है ॥

मुनिराजों के रथ (वाहन) का अभाव है, जबकि अरिहंतों की शोभायात्रा रथ (वाहन) पर ही निकलती है ॥

मुनिराज उत्तम या मध्यम अंतरात्मा के भेद हैं, तो अरिहंत/सिद्ध सकल या निकल परमात्मा के ॥

आदि-आदि ॥

कहने का अर्थ मुनिराजों के सूत्र अलग हैं व अरिहंतों के अलग ॥

दोनों को एक दूसरे में गर्भित नहीं किया जा सकता ॥

व जो गर्भित करता है निश्चित ही उसके सम्यक्त्व पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है ॥

अथवा बैनाड़ा जी के पास वे गाथायें ही नहीं थी जो कि यह सिद्ध कर सके कि आर्यिकायें प्रतिमाजी के चरण स्पर्श न करें, क्योंकि मुनिराजों के चरण स्पर्श करने वाली आर्यिका मातायें, प्रतिमाजी के स्पर्श न करती होंगी यह हो ही नहीं सकता ॥ अतः प्रमाण के अभाव में ही शायद बैनाड़ा जी ने इस विषय को गौण कर दिया होगा ॥

सिर्फ यही नहीं, इस चर्चा में उनके द्वारा दिये गये निष्कर्ष भी हास्यास्पद हैं ॥

आर्यिका माताओं द्वारा आचार्य भगवंत के चरण स्पर्श प्रकरण के अंतर्गत वे आगम प्रमाण प्रस्तुत करते हुये कह रहे हैं कि :-

ग्रंथ : श्री मूलाचार जी ग्रंथकार : मुनिवर्य वट्टकेराचार्य गाथा : १९५

पंच छ सत्त हत्थे, सूरी अज्झावगो य साधू य ।
परिहरिऊणज्जाओ, गवासणेणेव वंदंति ॥

अर्थ:- आर्यिकायें आचार्य को पाँच हाथ से दूर रहकर, उपाध्याय को छः हाथ से व साधु को सात हाथ दूर रह कर, गवासन से ही वंदना करती है ॥

इसी के साथ वे श्री मूलाचार प्रदीप जी की भी उपरोक्त अर्थ वाली गाथा ८५ अधिकार दो को भी प्रस्तुत कर रहे हैं ॥

इस प्रकार दोनों प्रमाणों के आधार पर वे निष्कर्ष दे रहे हैं कि आर्यिका को आचार्य या मुनि के चरण स्पर्श कदापि नहीं करना चाहिये ॥

अब मैं पुनः अचंभित हूँ !!

अचंभित हूँ कि मैं बैनाड़ा जी को आखिर किस आधार पर परीक्षा-प्रधानी कहूँ ?

मुझे तो कोई आधार ही नहीं दिखता ॥

प्रिय पाठकों, यदि आपको दिख जाये, तो मुझे भी दिखला देना ॥

यहाँ इस गाथा की समीक्षा में वे स्वयं कह रहे हैं कि उपरोक्त क्रम भेद जब आलोचना करनी हो तब, स्वाध्याय करना हो तब और अंत में आचार्य भगवंत की स्तुति करनी हो तब के लिए ही कहा गया है ॥

इस का अर्थ यह नहीं है कि सात हाथ, छः हाथ व पाँच हाथ की दूरी का विधान सर्व कालिक है ॥

वह इसलिए कि आर्यिका दीक्षा काल में आर्यिका दीक्षा देते हुए दीक्षा के सम्मुख शिष्या से क्या पाँच हाथ की दूरी से आचार्य भगवंत दीक्षा के संस्कार करेंगे ?

पाँच हाथ की दूरी का विधान तो आर्यिका माता के लिये है, अतः दीक्षा के सम्मुख यह शिष्या तो अभी आर्यिका नहीं है, सामान्य अणुव्रती है, तो क्या आचार्य भगवंत दस हाथ की दूरी से संस्कार देंगे ?

अथवा वह शिष्या यदि असंयमी है तो क्या संस्कार १५ हाथ की दूरी से दिये जायेंगे ?

नहीं न ?

अतः सिद्ध हुआ कि उपरोक्त विधान सर्व कालिक नहीं है।

किंतु नहीं, यही नहीं, और भी बाधायें आयेंगी ॥

जैसे आहार के काल में आचार्य भगवंत के जब आर्यिका से ही पाँच हाथ की दूरी का विधान है तो क्या अणुव्रती श्राविका से वे १० हाथ की दूरी से आहार ग्रहण करेंगे ? अथवा असंयमी स्त्रियों से क्या १५ हाथ की दूरी से आहार लेंगे ?

नहीं न ?

अथवा कहो आचार्यों द्वारा दीक्षा के प्रकरण व स्त्रियों द्वारा आहार दान के प्रकरण और विस्तार भय से यहां नहीं कहे गये शेष समस्त प्रकरण आगम बाह्य व भट्टारकों के देन हैं ॥

क्योंकि उपरोक्त प्रकरणों का निषेध किये बिना ५, ६, व ७ हाथ की दूरी का विधान सर्वकालिक बन ही नहीं सकता ॥

किंतु इन प्रकरणों का निषेध करने पर एक बाधा पुनः आयेगी और वह यह कि :-

बैनाड़ा जी द्वारा प्रमाण रूप से प्रस्तुत श्री मूलाचार जी में ही मुनियों को भी आचार्य भगवंत की वंदना एक हाथ की दूरी से करने को कहा है ॥

अर्थात् मुनिराज भी आचार्य भगवंत के चरणों का स्पर्श नहीं कर सकते (श्री बैनाड़ा जी की शैली अनुसार)॥

देखिये प्रमाण :-

ग्रंथ श्री मूलाचार जी **ग्रंथकार : मुनिकुंजर वट्टकेराचार्य** **गाथा : ६१९**

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो ।
जाचेंतो वंदणयं इच्छाकारं करुणइ भिक्खू ॥

अर्थ :- बाधा रहित एक हाथ के अंतर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वंदना की याचना करके वंदना को करता है ॥

अर्थात् मुनि भी वंदना आदि एक हाथ की दूरी से ही करते हैं ॥

अब कहिये बैनाड़ा जी, क्या कहते हैं ?

अपने मन के सत्यों को सिद्ध करने हेतु, किन-किन शास्त्रों को नकारोगे, किन-किन आचार्यों व विद्वानों पर संदेह करोगे ?

अतः संभलो ॥

व्यर्थ के अपलाप व आग्रहों से बचो ॥

इस प्रकार यहाँ बैनाड़ा जी द्वारा प्रमाणों से ही सिद्ध हुआ कि ५,६,७ हाथ की दूरी का विधान अपेक्षा सहित है, सर्व कालिक नहीं ॥

इन्हें सर्वकालिक कहना सम्यक्त्व पर प्रश्न चिह्न के अलावा और कुछ नहीं होगा ॥ अर्थात् उपरोक्त दो प्रमाणों से सिद्ध ही नहीं होता है कि आर्यिका मातायें मुनिराजों के अथवा प्रतिमाजी के चरण स्पर्श न करें ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑

निवेदन

प्रिय पाठकों,

मैंने यहाँ जो कुछ भी लिखा है, वह लिखने वाला मैं छद्मस्थ हूँ, अतः विद्वत्गण मेरी क्षायोपशमिक सीमाओं का स्मरण रखते हुये मेरे लिखे विषय में नय-निक्षेपानुसार सुधार कर पढ़ें ॥

भूलों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ॥

यहाँ विशेष यह है कि बैनाड़ा जी स्वयं की सत्य के पक्षधर होने की घोषणा कर रहे हैं ॥

काश बैनाड़ा जी ने जैसी घोषणा की है सत्य वैसा ही होता ॥

किन्तु सत्य वैसा है नहीं ॥

परिपत्रक के एन प्रारम्भ में वे लिखते हैं कि) आर्यिकाएँ पूज्य हैं अथवा नहीं के विषय में) यह आवश्यक समझा गया कि (वे पूज्य नहीं है) इस विषय पर आगमिक समाधान दिया जाना चाहिये, ताकि सभी धर्मप्रेमियों को (आर्यिकाएँ अपूज्य ही हैं की) वास्तविकता ज्ञात हो सके अतः इसी आशय से यह प्रयास किया गया है ॥ आइये, हम सभी (आर्यिकाएँ अपूज्य हैं के पक्ष में) निष्पक्ष भाव से उपरोक्त विषय पर चर्चा करते हैं ॥ (यहाँ ब्रेकेट में प्रयोग किए गये शब्द परिपत्रक से सिद्ध बैनाड़ा जी के ही आशय हैं ॥)

मेरी दृष्टि में तो वे ऐसा नहीं कर पाये, उनके निष्कर्ष या तो अधूरे हैं या अतिरंजित या पूर्वापर आदि दोषों से समन्वित ॥

आगम अनुसारी बुद्धि जिसकी कि वे स्वयं के लिए इस परिपत्रक में घोषणा करते हैं वह तो है ही नहीं ॥

इसके पश्चात् परिपत्रक के अन्त में **सारांश और निवेदन शीर्षक** के तहत वे बिल्कुल अंतिम घोषणा करते हैं कि **आशा है विद्वत् गण व सम्पूर्ण समाज इस लेख को पढ़कर (आर्यिकाएँ अपूज्य ही हैं) की वास्तविकता को (जैसा वे समझा रहें है वैसा ही) समझने का प्रयास करेंगे ॥**

आश्चर्य होता है, स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानने व समझने वाले एवं मुझको आगम

ही शरण है की घोषणा करने वाले बैनाड़ा जी का उपरोक्त पंक्ति में दृष्टव्य अहम् समझ से परे है ॥

ज्ञानी तो कहता है कि छद्मस्थ होने के कारण यदि मैं अपने लिखे में कहीं चूक जाऊं तो छल ग्रहण मत करना, मेरे लिखे को छोड़ आगम के पृष्ठों से सम्यक् अर्थ ग्रहण कर लेना ॥

किन्तु नहीं, यहाँ तो उन्हें मानो स्वयं के श्रुत केवली होने में कहीं शंका ही शेष नहीं है, यह प्रकट हो रहा है ॥ यहाँ तो उनका यही आशय प्रकट हो रहा है कि उनसे चूक की संभावना ही नहीं है, जो निर्णय उन्होंने लिये हैं वे ही सम्यक् हैं, अतः सभी को उन्हीं की अनुसारिणी बुद्धि का होना चाहिये ॥

धन्य है बैनाड़ा जी, आप धन्य हैं ॥

प्रिय पाठकों, मैं स्वीकार करता हूँ कि :-

कहीं-कहीं मैं बैनाड़ा जी के प्रति अति कटु हो गया हूँ, वह मात्र इसलिये कि उन्होंने हमारे प्राचीन आचार्यों व विद्वानों के प्रति धृष्टता की है ॥

मात्र प्राचीन आचार्यों के प्रति ही नहीं, अपितु वर्तमान के पिच्छी धारियों के प्रति भी ॥

उनके प्रति मेरे मन में व्यक्तिगत अथवा अनंत संसार का हेतु भूत ऐसा कोई द्वेष नहीं है ॥

फिर भी उनकी धृष्टता को क्षमा करते हुये, उनके प्रति जो मैं कटु हो गया हूँ उसकी हृदय से क्षमा मांगता हूँ ॥

आशा है, मुझे लघु जान वे अवश्य ही क्षमा कर देंगे ॥

शेष समस्त आदरणीय पाठक वर्ग से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मेरे कहे में से सार-सार को ग्रहण कर लेना व थोथा उड़ा देना ॥

यदि संभव हो तो त्रुटियों से मुझे अवगत भी करा देना ॥

आपका स्नेह सहित

दिनांक :- १७ दिसम्बर, २००० **हेमन्त काला**

रायपुर (छ.ग.)

❑

|| रिक्त पृष्ठ ||

(सम्पादकों अथवा लेखकों से पत्र व्यवहार हेतु आवश्यक टिप्पणी के लिये)

|| रिक्त पृष्ठ ||

(सम्पादकों अथवा लेखकों से पत्र व्यवहार हेतु आवश्यक टिप्पणी के लिये)